स्वामी रामतीर्थ ।

आनन्द ।

ता० १७ दिसम्बर १९०२ को सैन फ्रांसिस्को की विज्ञान सभा में दिया हुआ व्याख्यान ।

महिलाओं और भद्रपुरुषों के रूप में मेरे ही आत्मन् !

आनन्द ही सबका अन्तिम साध्य है ।

राम यूरोपीय और ईसाई राष्ट्रों को उनकी विजयिनी सेनाओं और सैन्यदलों के लिये दोष नहीं देता। किसी राष्ट्र की आध्यात्मिक उन्नति में यह भी एक आवश्यक अवस्था है। भारत को यह अवस्था व्यतीत करना पड़ी थी । किन्तु बहुत प्राचीन जाति होने के कारण उसने सांसारिक सुखों को तराज़ू में तौला और निस्सार पाया। जो राष्ट्र आज कल्ह सांसारिक ऐश्वर्य

और सम्पत्तियों के संग्रह में लिप्त हैं, उन्हें भी यही अनुभव होगा। ये सब राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों को अधीन करने के लिये अपनी सेनाओं के चढ़ाने का प्रयत्न क्यों कर रहे हैं? इन बातों में वे क्या ढूढ़ रहे हैं? केवल सुख, आनन्द और उल्लास ढूढ़ा जा रहा है। कुछ लोग कहते हैं कि हम, सुख की नहीं, ज्ञान की खोज में हैं। दूसरे कहते हैं कि हम, सुख की नहीं, कार्य की तलाश में हैं। ये सब बातें बहुत ठीक हैं। किन्तु सामान्यतः मनुष्यों और साधारण प्राणियों के मन में और हृदयों को टटोलिये, आप को पता लगेगा कि प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रीति से, जान कर या अनजाने, जिस अन्तिम उद्देश्य को उन्हों ने अपने सामने रक्खा है, जिस अन्तिम लक्ष्य के लिये वे सब प्रयत्न कर रहे हैं, वह आनन्द है, एक मात्र आनन्द है।

आइये, आज यह विचार करें कि आनन्द कहां रहता है: वह महल में रहता है या झोपड़े में, वह कामिनियों की कांति में है अथवा सोने और चांदी से मोल ली जा सकने वाली वस्तुओं में; आनन्द का जन्म स्थान कहां है? आनन्द का भी अपना एक स्वतंत्र इतिहास है। यह लम्बे भ्रमणों का युग है। बाष्प और विद्युत् ने समय और स्थान का उच्छेद कर दिया है। ये बड़ी यात्राओं के दिन हैं, और हरेक अपनी यात्रा का वृत्त लिख डालता है। आनन्द भी परिभ्रमण करता है। उस के भ्रमण का कुछ हाल हमें जानना चाहिये।

आनन्द का इतिहास। हम आनन्द की प्रथम झलक से आरम्भ करते हैं, जो बच्चे में उसकी बाल्यावस्था में होती है। माता के आँचल में या प्यारी माता की गोद में स्थित शिशु अपने को पूर्ण प्रसन्न समझता है। उसके लिये सम्पूर्ण

आनन्द उसी स्थल पर स्थित है। जिस बड़े मार्ग पर आनन्द को यात्रा करना है, उसका पहला पड़ाव माता का आँचल या माता की गोद है। गोदी के बच्चे के लिये माता की गोद से अधिक आनन्ददायक और कोई वस्तु नहीं है। वहां बच्चा अपना चेहरा माता के आँचलों से छिपा कर कहता है "मां-देख! देख! मेरा पता लगा! बता तो मैं कहां हूं?" और प्रसन्नता से हँसता है। वह जी खोलकर अन्तःकरण से हँसता है। पुस्तकें बच्चे के लिये निरर्थक हैं। खज़ाने उसके लिये व्यर्थ हैं। जिस बच्चे का दूध नहीं छोड़ा दिया गया है, उसके लिये फलों और मिठाइयों में कोई स्वाद नहीं है। बच्चे के लिये सारे संसार का आनन्द माता की गोद में एकत्रित है।

एक वर्ष बीतने पर बच्चे के आनन्द का केन्द्र बदल जाता है। वह हट कर किसी दूसरी जगह चला जाता है। आनन्द अब खिलौनों, सुन्दर खिलौनों, गुड़ियों और बबुओं में निवास ग्रहण करता है। दूसरी अवस्था में बच्चा माता को उतना नहीं चाहता जितना अपने खिलौनों को। कभी २ बच्चा प्यारी माता से खिलौनों और बबुओं के लिये झगड़ा ठानता है।

कुछ महीने या वर्ष और बीतने पर, गुड़ियों और बबुओं में भी उसे आनन्द नहीं मिलता। फिर आनन्द ने अपना केन्द्र बदल दिया। अब इन वस्तुओं में भी उसकी स्थिति नहीं रह गयी। तीसरी अवस्था में, जब शिशु बढ़ कर लड़का हो जाता है आनन्द उसके लिये पुस्तकों में, विशेषतः कहानियों की किताबों में जा ठहरता है। यह सामान्य बुद्धि के बालक की बात है। कभी २ आनन्द दूसरे पदार्थों में होता है। किन्तु हम सामान्य घटना की चर्चा कर रहे हैं। अब बालक का सम्पूर्ण प्रेम और स्नेह कहानी की किताबों में

सिमट जाता है। अब खिलौनों, बबुओं और गुड़ियों की सुन्दरता जाती रही। कहानी की किताबों ने उनका स्थान ग्रहण कर लिया, और वह पुस्तकों को सुन्दर तथा मनोहर पाता है। किन्तु आनन्द आगे यात्रा करता है।

विद्यालय त्याग कर लड़का महाविद्यालय में प्रवेश करता है। महाविद्यालय के जीवन में उसे किसी दूसरी ही वस्तु में आनन्द मिलता है, वैज्ञानिक पुस्तकें और तात्त्विक ग्रन्थ मान लीजिये। वह उन्हें कुछ समय तक पढ़ता है, परन्तु उसका आनन्द पुस्तकों से चल कर विश्वविद्यालय की उपाधियां और सन्मान पाने के विचारों में जा पहुँचता है। अब उसकी आकांक्षा उसके आनन्द का निवासस्थान, उसकी प्रफुल्लता का मुख्य अड्डा है। विद्यार्थी विश्वविद्यालय से कीर्तिपूर्वक निकलता है। वह अच्छी आय का पद प्राप्त करता है। और अब इस युवा पुरुष का सब आनन्द धन में, ऐश्वर्य में केन्द्रीभूत हो गया। अब उसके जीवन का एक मात्र स्वप्न सम्पत्ति सञ्चय करना, सम्पत्तिशाली होना हो गया। वह बड़ा आदमी बनना, विपुल वसुधा बटोरना चाहता है। कार्यालय में कुछ महीने काम करने के बाद जब वह कुछ दौलत पा जाता है तब उसका आनन्द किसी दूसरी वस्तु पर जा टिकता है। वह कौनसी वस्तु है? क्या बताने की आवश्यकता है? वह है रमणी। अब, युवा पुरुष को स्त्री की आवश्यकता है और उसकी प्राप्ति के लिये अपनी सारी सम्पदा खर्च डालने को वह प्रस्तुत है। माता के आँचल से अब उसे कोई आनन्द नहीं मिलता है, खिलौनों में अब उसके लिये कोई मोहनी नहीं है, कहानी की किताबें किनारे फेंक दी गईं; और केवल उन्हीं अवसरों पर वे पढ़ी

जाती हैं, जब उनसे उसके जीवन के स्वप्न कामिनी के सहज स्वभाव के सूक्ष्म दर्शन में कुछ सहायता मिलने की आशा होती है। स्त्री के लिये वह सर्वस्व त्याग करने को तैयार है।

उसके आनन्द के इस नये केन्द्र की छोटी २ सी मौजों के लिये कठिन परिश्रम से उपार्जित धन लुटाया जाता है। युवा कुछ काल तक स्त्री के साथ रहता है, और देखिये तो सही! आनन्द अब कुछ आगे दिखाई पड़ने लगा। अपनी स्त्री के ध्यान से प्रारम्भ में उसे जो आनन्द मिलता था, अब नहीं प्राप्त होता। साधारण युवक के मामले में, पूर्वीय भारत (ईस्ट इण्डिया) के युवक का जहां तक सम्बन्ध है, आनन्द अब स्त्री से चल कर पैदा होने वाले बच्चे में पहुंच गया। अब बच्चा उसके जीवन का स्वप्न बन जाता है। वह एक बच्चा, देवदूत, ईश्वरप्रेरित, दिव्य पदार्थ अपने घर में चाहता है। राम इस*देश की दशा से अधिक परिचित नहीं है। किन्तु भारत में विवाह करने के उपरांत लोग संतान के लिये तरसने लगते हैं और तदर्थ ईश्वर से प्रार्थना करते हैं। यथाशक्ति वे कोई बात उठा नहीं रखते। वैद्यों की सहायता लेते हैं और सिद्ध-साधकों के आशीर्वाद का आवाहन करते हैं। सारांश यह कि शिशु पाकर धन्य होने के लिये वे सब कुछ करते हैं।

युवक का अब सब आनन्द बच्चा पैदा होने की आशा में जमा हो जाता है। आनन्द की यात्रा में, उल्लास के कूँच में शिशु छठे पड़ाव पर है। अब युवक बच्चा पाकर धन्य हुआ। उसके आनन्द की कोई सीमा नहीं है। उसका हृदय गद्गद है, वह उछल पड़ता है, वह फूल कर कुप्पा हो गया

---

*यहां तात्पर्य अमेरिका से है।

है, मानों वह भूमि से कई हाथ ऊँचा उठ गया, वह चलता नहीं है, मानों हवा में उड़ता है। बच्चे का जन्म उसके अन्तःकरण को आनन्द से परिपूर्ण कर देता है। छठी अवस्था में, चन्द्रमुख बच्चे में, परिवृद्ध बच्चे का आनन्द एक प्रकार से पराकाष्ठा को पहुँच जाता है। जिस क्षण वह अपने बच्चे का मुख देखता है, वह अत्यन्त आनन्द की घड़ी है। साधारण मनुष्य का आनन्द अपनी चरम सीमा को पहुँच गया। इस के बाद युवक का उत्साह कम होने लगता है। बच्चा किशोरावस्था को प्राप्त होता है और सुन्दरता चल बसती है। इस मनुष्य का आनन्द योंही यात्रा करता रहेगा, कभी यहां ठहरा, कभी वहां।

आनन्द का उद्गमस्थान।

अब हमें विचारना चाहिये कि क्या सचमुच आनन्द ऐसी वस्तुओं में—माता का आंचल, बबुए और गुड़ियां, पुस्तकें, विभव, स्त्री, बच्चा—अथवा किसी भी सांसारिक वस्तु या पदार्थ में है। आगे बढ़ने के पूर्व, आओ, भ्रमणशील आनन्द की भ्रमणशील सूर्यप्रकाश से तुलना करें। प्रभाकर की प्रभा भी यहां से वहां विचरती रहती है। एक समय वह भारत को प्रकाशित करती है तो दूसरे क्षण यूरोप को। वह आगे ही बढ़ती है। जब सायंकाल की छाया पड़ती है, तब देखो कितनी शीघ्रता से सूर्यप्रभा स्थान बदलती है। वह पूर्वीय अमेरिका में चमकती है और वहां से पश्चिम की ओर बढ़ती है। देखिये, सूर्यप्रकाश कैसा अंगूठों के बल फुदकता फिरता है, इस देश से उस देश में विछलता हुआ वह जापान में अपनी जगमगाहट फैलाता है, इसी तरह आगे भी। सूर्यप्रभा एक स्थान से दूसरे स्थान की यात्रा करती रहती है। किन्तु ये

विभिन्न स्थान, जहां सूर्यज्योति दिखाई पड़ती है, उसके उद्गम या निवासस्थान नहीं हैं। सूर्यज्योति का निवासस्थान कहीं अन्यत्र ही है, सूर्य में है। सूर्यप्रभा की भांति इधर से उधर निरन्तर गमनशील आनन्द की परीक्षा हमें इसी तरह करनी चाहिये। वह कहां से आता है? उसका वास्तविक घर कहां है। आनन्द के सूर्य की ओर हमें देखना चाहिये।

बच्चे से धन्य होने वाले भद्रपुरुष की बात ले लीजिये। वह अपने कार्यालय में बैठा हुआ है। अपने कार्य में व्यस्त है। एकाएक उसे घंटी की टनटन सुनाई देती है। कौनसी घंटी? टेलीफोन की घंटी। वह झपट कर टेलीफोन के पास पहुँचता है, परन्तु संदेश सुनने के समय उसका कलेजा धड़कने लगता है। कहावत है कि आने वाले संकटोंकी छाया पहले ही से पड़ने लगती है। उसका हृदय धकड़ रहा है, पहले तो कभी ऐसा नहीं हुआ था। वह टेलीफोन के पास पहुँच कर संदेश सुनता है। राम २! बड़ा ही दुखदायी समाचार रहा होगा। बेचारा भद्रपुरुष सिसकियां ले २ कर कराह रहा है, उसकी सुध-बुध जाती रही, चेहरे का रंग उड़ गया। पीला, मुर्दनी छाया हुआ मुख लेकर वह अपने आसन पर आया, कोट पहना तथा टोपी दी, और कार्यालय से चल दिया, मानों उसके बन्दूक की सी गोली लग गई हो। उसने अपने प्रधान से, विभाग के मुखिया से अनुमति भी नहीं ली। कमरे में उपस्थित चाकरों से उसने कोई बात भी नहीं कही। अपनी चौकी (टेबिल) पर फैले हुए कागज पत्रों को भी समेट कर उसने बन्द नहीं किया। उसका ज्ञान-ध्यान सब जाता रहा और सीधा कार्यालय से चल दिया। उसके साथी चकित रह गये। सड़क पर पहुँच कर अपने सामने उसने एक

गाड़ी गुज़रती देखी। वह दौड़कर गाड़ी के पास पहुँचता है और वहां डाकिया उसे एक पत्र देता है। इस पत्र में उसके लिये यह सुसमाचार था कि वह एक बड़ी सम्पत्ति का स्वामी हुआ है। सांसारिक दृष्टि से यह सम्वाद कदाचित् सुखकर हो सकता है। इस मनुष्य ने एक चिट्ठी छोड़ी थी और डेढ़लाख रुपया उसके नाम में निकला। इस समाचार से उसे प्रसन्न होजाना चाहिये था, आनन्द से नाच उठना चाहिये था। किन्तु ऐसा नहीं हुआ, ऐसा नहीं हुआ। टेली-फोन से मिला हुआ संदेश उसके हृदय को मसोस रहा था। इस नये समाचार से वह सुखी नहीं हुआ। ट्राम गाड़ी में उसने राज्य के एक बहुत बड़े पदाधिकारी को ठीक अपने सामने बैठा पाया। यह वही अधिकारी था, जिससे भेंट करना उसके जीवन का एक स्वप्न हो रहा था। किन्तु देखो तो! इस भद्रपुरुष ने उस राज्यकर्मचारी से नज़र भी नहीं मिलाई, अपना मुँह फेर लिया। एक महिलामित्र का मधुर मुख भी उसे दिखाई पड़ा। हमारे भद्रपुरुष की इस महिला से मिलकर बातचीत करने की लालसा रहा करती थी, किन्तु इस समय उसकी मधुर मुसक्यान के प्रति वह उदासीन रहा। अस्तु! अब हमें उसे अधिक काल तक संदिग्धावस्था में रखना उचित नहीं है, और न आप ही को देर तक प्रत्याशा में रखना चाहिये। जिस सड़क पर उसका घर था वहां वह पहुँच गया। बड़ा हल्ला गुल्ला हो रहा था। उसने देखा कि धुँए के मेघ आकाश में चढ़ २ कर सूर्य-देव को ढक रहे हैं। उसने देखा कि अग्नि-शिखायें आकाश का चुम्बन कर रही हैं। उसने अपनी स्त्री, दादी, माता तथा अन्य मित्रों को अग्निकाण्ड के लिये, जिससे उनका घर स्वाहा हो रहा था, रोते और हाय २ करते देखा। उसने

अपने और स्नेहपात्रों को तो वहां देखा किन्तु एक को न पाया। उसके आनन्द का उन दिनों का केन्द्र केवल गायब था; प्रिय बच्चा, मधुर छोटा शिशु लुप्त था। वह वहां नहीं था। उसने बच्चे के सम्बन्ध में पूछा किंतु स्त्री कोई उत्तर न दे सकी। रोना और सिसकना ही उसका प्रत्युत्तर था, जो अबोध्य था। सत्य का उसे पता लग गया। उसे मालूम हुआ कि बच्चा घर ही में छूट गया। आग लगने के समय बच्चा अपनी धाय के पास था, धाय बच्चे को पालने में सुला कर कमरे से चली आई थी। आग से घर जलता देख कर घरवाले घबड़ाकर जल्दी से निकल भागे। सब ने यही समझा कि बच्चा किसी न किसी घरवाले के पास होगा। सब के सब निकल भागे, और अब उन्हें मालूम हुआ कि बच्चा उसी कमरे में रह गया, जिसे अब अग्नि आवृत्त कर रही थी। लोग रो रहे थे, दांत कटकटा रहे थे, ओठ काट रहे थे, छाती पीट रहे थे, किंतु कोई वश नहीं था। हमारा भद्रपुरुष, उसकी स्त्री, उसकी माता, एवम् मित्र, और धाय चिल्ला २ कर एकत्रित जनसमूह से, पुलिसमैनों से, लोगों से अपने प्रिय छोटे बच्चे को बचाने की प्रार्थना कर रहे थे। "किसी तरह से हमारे छोटे बच्चे को निकालो। हम अपनी सब सम्पत्ति देदेंगे, आज से दस वर्ष तक जितना धन सञ्चय करेंगे देदेंगे, हम सब कुछ भेट कर देंगे, हमारे बच्चे को बचाओ, हमारे बच्चे को बचाओ"। (आप को याद होगा कि यह दुर्घटना ऐसे देश में हुई थी, जहां फायर इनश्योरेंस कम्पनियां उसी प्रमाण में नहीं मौजूद हैं जिस प्रमाण में इस देश में हैं)। वे बच्चे के लिये सब कुछ दे डालने को तैयार हैं। सचमुच, बच्चा ऐसी ही मधुर वस्तु है, छोटा बच्चा बड़ी ही प्रिय वस्तु है, और वह इसी योग्य

है कि सम्पूर्ण सम्पत्ति और वसुधा उसके लिये निछावर कर दी जायँ। किंतु राम एक प्रश्न करता है। "क्या बच्चा आनन्द का मूल साधन है, संसार में सब से अधिक प्रिय वस्तु है, अथवा आनन्द की जड़ कहीं और ही है?" ध्यान दीजिये। प्रत्येक वस्तु बच्चे के लिये अर्पण की जा रही है, किंतु क्या किसी प्रियतर, किसी अन्य वस्तु के लिये स्वयं बच्चे का बलिदान नहीं किया जा रहा है? बच्चे के लिये दौलत दी जा रही है, माल दिया जा रहा है, सम्पत्ति दी जा रही है, किंतु बच्चा किसी दूसरी ही वस्तु के लिये दिया जा रहा है। आग में फाँदने का जो लोग साहस करें, उनके प्राण चाहे चले जाँय। किंतु वह प्यारा छोटा बच्चा किसी दूसरी ही वस्तु के, किसी उच्चतर वस्तु के लिये नष्ट किया जा रहा है। यह अन्य वस्तु अवश्य ही बच्चे से भी बढ़ कर प्रिय होगी, यही अन्य वस्तु वास्तविक केंद्र होगी, आनन्द का वास्तविक उद्गमस्थान होगी। यह अन्य वस्तु क्या है? विचारिये तो सही! वे स्वयं आग में नहीं कूद पड़े। यह अन्य वस्तु स्वयं (Self=कूटस्थ आत्मा) है। यदि वे आग में कूदते हैं तो अपने को भेंट चढ़ाते हैं और यह करने को वे तैय्यार नहीं हैं। अन्य सब चीज़ें तो बच्चे पर निछावर हैं, और बच्चा उस स्वयं (Self) पर निछावर है।

अब हमें पता लग गया कि आनन्द की सर्वोपरि अवस्था अर्थात् बच्चे, में आनन्द नहीं है। बच्चा सुंदर प्रिय, और आनन्द का मूल इस लिये है कि वह उस ज्योति से धन्य है, जो स्वयं (Self) से निर्गत होती है। ज्योति बच्चे में नहीं है। यदि आनन्दरूपी ज्योति बच्चे में अन्तर्निहित होती तो बच्चे के शरीर में वह सदा बनी रहती। समझ लीजिये कि बच्चे के मुख को उद्भासित

आनन्द का उद्गम-स्थान आत्मा है।

करने वाली ज्योति अंतर्गत उद्गम-स्थान से निकल रही थी। आनन्द का वास्तविक उद्गम-स्थान अपना आत्मा है।*

अब हम आनन्द के घर, आनन्द के मूल स्थान के कुछ निकट पहुँच गये हैं। बच्चा इस लिये प्रिय नहीं है कि वह बच्चा है, बच्चा आत्मा (Self) के लिये प्यारा है। स्त्री स्त्री के लिये प्यारी नहीं है, पति पति के लिये प्यारा नहीं है, स्त्री आत्मा के लिये प्यारी है, पति आत्मा के लिये प्यारा है। यथार्थ बात यह है †। लोग कहते हैं कि वे किसी वस्तु को उसी के लिये प्यार करते हैं। किन्तु ऐसा नहीं हो सकता, नहीं हो सकता। दौलत दौलत के लिये प्यारी नहीं है, दौलत प्यारी है आत्मा के लिये। पहले की प्यारी स्त्री से जब काम नहीं चलता तब उसे पति तलाक दे देता है। इसी तरह किसी काल के प्यारे पति से जब काम नहीं चलता तब स्त्री उसे त्याग देती है। जब दौलत से काम नहीं निकलता, वह छोड़ दी जाती है। आप नीरो का हाल जानते हैं। उसे सुंदर रोम, अपनी राजधानी अधिक काम की अथवा अधिक रोचक नहीं जान पड़ी। उसकी तो अग्नि काण्ड, प्रकाण्ड उत्सव-दहन देखने की अधिक इच्छा थी। देखिये! वह एक निकटवर्ती पहाड़ की चोटी पर चला गया और विराट अग्निकाण्ड के दृश्य का सुख लूटने की इच्छा से अपने मित्रों से सारे नगर में जाकर आग लगा देने को कहा। रोम भस्म हो रहा था और नीरो चिकारा बजा रहा था। इस प्रकार हमें पता लगता है कि ऐश्वर्य भी त्याग दिया जाता है जब उससे हमारा काम नहीं चलता। राम ने

---

* आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। बृहदारण्यकोपनिषद्.

† बृहदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी का संवाद।

एक अति विचित्र घटना अपनी आंखों से देखी है । एक समय गंगा नदी में बड़ी बाढ़ आगई थी, नदी चढ़ती ही चली जाती थी। एक वृक्ष की शाखा पर अनेक बंदर बैठे हुए थे। इनमें एक बंदरिया थी और उसके कई बच्चे थे । ये सब बच्चे अपनी मा के पास चले गये। बंदरिया जहां बैठी थी वहां तक पानी पहुँच गया। वह उचक कर और भी ऊंची डाल पर चली गई। वहां भी पानी पहुंच गया। वह सबसे ऊंची टहनी पर चढ़ गई, किन्तु जल वहां भी पहुँच गया। सब बच्चे अपनी मा के अंग में चिपटे हुए थे। जब पानी उसके पैरों तक चढ़ गया उसने एक बच्चे को पकड़ कर अपने पैरों तले रख लिया। पानी और भी चढ़ा। बंदरिया ने दूसरे बच्चे को पकड़कर अपने पैरों के नीचे रख लिया । पानी और भी ऊंचा उठा, और अपनी रक्षा के लिये उसने तीसरे बच्चे को भी निर्दयता से पैरों के नीचे दबाया। ठीक यही दशा है। लोग और चीज़ें हमें उसी समय तक प्यारी हैं जब तक उनसे हमारा स्वार्थ सिद्ध होता है, हमारी इच्छा पूर्ण होती है। उधर हमारे स्वार्थ को धक्का लगने की आशंका हुई, इधर हमने सब चीज़ों को भेंट चढ़ाया।

प्रीति का तारतम्य भाव।

इस प्रकार हम इस परिणाम पर पहूँचते हैं कि आनन्द का आसन, मूलस्थान कहीं आत्मा में है। सुख का घर कहीं अपने में तो है, परन्तु कहां है? पैरों में है? चरण सकल शरीर के अवलम्ब हैं, उनमें हो सकता है; किन्तु नहीं, चरणों में वह नहीं है। यदि पैरों में आनन्द का घर होता तो पैर संसार की सब वस्तुओं से अधिक प्रिय होते। यह ठीक है कि पैर सब बाहरी वस्तुओं से अधिक प्रिय हैं, परन्तु वे हाथों के तुल्य प्रिय नहीं हैं।

तो आनन्द का निवासस्थान क्या हाथों में है ? हाथ पैरों की अपेक्षा प्यारे तो हैं, किन्तु वे भी आनन्द का घर नहीं हैं। तो क्या आनन्द नाक या नेत्र में टिका हुआ है ? नेत्र हाथों या नाक से अधिक प्रिय अवश्य हैं, परन्तु आनन्द का अवस्थान उन में भी नहीं है। किसी ऐसी वस्तु की कल्पना कीजिये जो नेत्रों से भी अधिक प्रिय हो। आप कह सकते हैं, जीवन। मैं कहता हूं पहले समग्र शरीर को लीजिये। समग्र शरीर आनन्द का घर नहीं है। हम देखते हैं कि यह समग्र शरीर भी हम त्यागते रहते हैं, हम हर क्षण बदल रहे हैं। कुछ वर्षों में शरीर के प्रत्येक सूक्ष्माणु का स्थान नये सूक्ष्माणु ग्रहण कर लेते हैं। आनन्द का स्थान कदाचित बुद्धि, मस्तिष्क या मन में हो। सम्भव है। अब यह बिचारना है कि बुद्धि से भी प्रियतर कोई वस्तु है या नहीं। आओ, विवेचन करें। यदि बुद्धि से बढ़कर मधुर और प्रिय कोई वस्तु ठहरे तो वही आनन्द का स्थान होगा। हम कहते हैं कि जीवन या हिन्दू शब्दावली में प्राण आनन्द का मूल हो सकता है, क्योंकि मेधाशक्ति खोकर भी प्रायः लोग जीना चाहते हैं। दो विकल्पों में वरण करना है, मृत्यु का आलिंगन कीजिये, अथवा विक्षिप्त या बौरहे होकर जीते रहिये। प्रत्येक मनुष्य पागलपन की दशा में भी जीना ही पसन्द करेगा। इससे विदित हुआ कि जीवन की वेदी पर बुद्धि या धारणाशक्ति का बलिदान होता है। तो प्राण, व्यक्तिगत प्राण आनन्द का स्थान, सम्पूर्ण आनन्द का जन्मदाता सूर्य्य, होगा। अब विचार कीजिये कि जीवन आनन्द का वास्तविक स्थान है या नहीं। वेदांत कहता है नहीं! नहीं! जीवन भी आनन्द का स्थान नहीं है। आनन्द का आश्रम, अंतर्निहित स्वर्ग और भी ऊंचे पर है, "व्यक्तिगत, एकव्यापी जीवन से भी परे है"। तो फिर वह कहां है ?

राम ने एक बार एक मरणासन्न युवक को देखा। वह एक प्रचण्ड रोग से पीड़ित था। उसके शरीर में तीव्र वेदना हो रही थी। पीड़ा का प्रारम्भ पैर की उँगलियों से हुआ था। पहले वह तीव्र नहीं थी, ज्यों २ वह ऊपर चढ़ती गई त्यों २ उस का शरीर ऐंठने लगा। धीरे २ पीड़ा घुटनों तक आगई, और भी चढ़ती २ पेट तक पहुँची, तथा जब हृदय-स्थल में पहुँची तब मनुष्य मरगया। इस मनुष्य के अंतिम शब्द ये थे, "ओह! इस जीवन का अंत कब होगा, प्राण कब पीछा छोड़ेंगे"? ये उस युवक के शब्द थे। आप जानते हैं, इस देश में आप लोग कहते हैं, उसने प्रेत को छोड़ (ghost) दिया। भारत में हम लोग कहते हैं, उसने शरीर को छोड़ दिया। इससे भेद प्रकट होता है। यहां शरीर को आत्मा मानते हैं और प्रेत (जीवात्मा) को उसमें बंधी हुई किसी वस्तु के तुल्य समझते हैं। भारत में शरीर को आत्मा से भिन्न एक द्रव्य समझते हैं और वास्तविक आत्मा को मुख्य वस्तु मानते हैं। वहां शरीर के मरने पर कोई अपने को मृत नहीं मानता, वह मरता नहीं है, केवल चोला बदल डालता है। और इस लिये, उस युवक के मुख से ये शब्द निकले थे, "ओह! यह शरीर मैं कब छोड़ूंगा, ये प्राण मुझे कब छोड़ेंगे?" अब हमें जीवन से भी बढ़कर, प्राणों से भी श्रेष्ठ किसी वस्तु का पता लग गया, जो कहती है "मेरा जीवन", "मेरे प्राण"; यह वस्तु प्राणों की अधिकारिणी है और प्राण तथा जीवन से ऊपर है। यह कोई वस्तु व्यक्तिगत. एकव्यापी जीवन या प्राण से कहीं अधिक मधुर है। अब हम देखते हैं कि उस शरीर विशेष से, प्राण या जीवन से उच्चतर आत्मा का, प्राण से अधिक आत्मा का हित नहीं साधित हुआ, और प्राण या जीवन का बलिदान कर दिया गया,

प्राण या जीवन त्याग दिया गया। इस स्थल में हमें ऐसी कोई वस्तु दिखाई पड़ी, जो प्राण या जीवन से श्रेष्ठ है, जिस के लिये जीवन का उत्सर्ग कर दिया गया। अवश्य जीवन की अपेक्षा यह कहीं मधुर होगी, आनन्द का वास-स्थान होगी, हमारे आनन्द का मूल या उत्पत्ति-स्थान होगी। अब हमारी समझ में आगया कि प्राण या जीवन बुद्धि से मधुरतर क्यों है, कारण यही है कि प्राण वास्तविक आत्मा के, आपके अंतर्गत आत्मा के निकटतर है। बुद्धि नेत्रों से प्यारी क्यों है? क्योंकि बुद्धि नेत्रों की अपेक्षा वास्तविक आत्मा के अधिक निकट है। और नेत्र पैरों की अपेक्षा प्रियतर क्यों हैं? क्योंकि आपके वास्तविक आत्मा से पैरों की अपेक्षा नेत्रों की अधिक घनिष्ठता है। प्रत्येक मनुष्य अपने बच्चे को किसी दूसरे के, पड़ोसी के बच्चे की अपेक्षा कहीं अधिक रूपवान क्यों समझता है? वेदांत के मत से "कारण यही है कि इस विशिष्ट शिशु को, जिसे आप 'मेरा' कहते हैं, आपने अपने वास्तविक आत्मा के कुछ सोने से मढ़ा है"। कोई भी पुस्तक, जिसमें आप की लिखी हुई एक पंक्ति है; कोई भी रचना, जिसमें आप की लेखनी से निर्गत कुछ सन्निविष्ट है, आपको किसी भी पुस्तक से, वह प्लेटो की ही रची क्यों न हो, कहीं उत्तम मालूम होती है। ऐसा क्यों है? क्योंकि इस पुस्तक में, जिसे आप अपनी कहते हैं, आप के वास्तविक आत्मा की कुछ जगमगाहट है। यह आपके अंतर्निहित स्वर्ग की प्रभा से धन्य हुई है। इसी लिये हिंदू का कथन है कि परमसुख का नाम और आनन्द की प्रकृत राजधानी आपके अंतर्गत है। सम्पूर्ण स्वर्ग आपके भीतर है, समस्त आनन्द का मूलस्थान आप में है। इस दशा में किसी दूसरी जगह आनन्द ढूढ़ना कितना अयुक्त है!

मोहकता के बीज।

भारत में एक प्रेमी के सम्बन्ध में यह कहानी प्रचलित है। वह अपनी प्रेयसी के लिये छटपटा था, सूख कर कांटा होगया था, मांस रही नहीं गया था। जिस देश में यह युवक रहता था उसके राजा एक दिन उसे दरबार में लाये, और उसकी प्राणेश्वरी को भी बुलवाया। राजा ने देखा कि नारी बड़ी ही कुरूपा है। राजा ने अपने दरबार को अलंकृत करनेवाली सब सुन्दरियों को युवक के सामने बुलवाया, और उस प्रेमी से कहा कि इनमें से किसी को पसन्द करलो। युवक ने कहा, "अरे महाराजा! ऐ सम्राट! हे नृपति! अपनी मूर्खता क्यों प्रकट करते हो। राजन्! आप जानते हैं, प्रेम मनुष्य को निपट अंधा कर देता है। महाराज! आप के नेत्र नहीं हैं कि देख सकें। मेरी आंखों से उसे (मेरी प्यारी को) देखिये, तब बताइये कि वह सुन्दरी है या कुरूपा। मेरे नेत्रों से उसे देखिये"। संसार के समस्त सौन्दर्य्य का रहस्य यही है। यही सब कुछ है। संसार के चित्ताकर्षक पदार्थों के सारे जादू का यही भेद है। ऐ मनुष्यों! तुम आप ही अपनी दृष्टियों से सब वस्तुओं को मनोहर बनाते हो। प्रेम के नेत्रों से देखते हुए तुम आपही अपनी प्रभा किसी वस्तु पर डालते हो, और फिर उस पर आसक्त हो जाते हो। यूनानी पुराण शास्त्र में "इको*" की कथा हमें पढ़ने को मिलती है। वह अपनी ही प्रतिच्छाया पर मोहित हो गई थी। सब सुन्दरताओं का यही हाल है, वे केवल आपके अन्तर्गत आत्मा की स्वर्ग की

---

* इको का अर्थ प्रतिध्वनि है। ग्रीक लोकों की दंतकथा में यह एक देवता मानी जाती है। ज्यूपिटर की स्त्री ज्यूनो के शाप से उसकी वाचाशक्ति दुर्बल हो गई थी, ऐसी मान्यता है, और इस शाप के कारण उस समय से उसको प्रतिध्वनि का रूप प्राप्त हुआ है।

प्रतिमा हैं। वे केवल आपकी प्रतिच्छाया हैं, और कुछ भी नहीं। जब यह बात है, तो अपनी ही छाया के पीछे दौड़ना, हैरान होना कितनी मूर्खता है।

राम एक ऐसे बच्चे की घटना जानता है, जिसने घुटनों के बल घिसलना, बइयां २ चलना प्रारम्भ ही किया था। लड़के ने अपनी ही छाया देख कर समझा कि यह तो कोई विचित्र वस्तु है, महत्त्वपूर्ण कुछ है। बच्चे ने छाया का शिर पकड़ना चाहा। वह उसकी ओर घिसलने लगा। छाया भी रेंगने लगी। इधर बच्चा खिसका, उधर छाया टरकी। छाया का शिर पकड़ने में असमर्थ होकर बच्चा रोने लगा। बच्चा गिर पड़ता है, छाया भी उसके साथ है। बच्चा फिर उठता है और छाया का पीछा करता है। यह दशा देख कर माता को दया आई और उसने बच्चे के हाथ में उसका शिर पकड़ा दिया, अब देखिये, छाया का शिर भी हाथ में आगया। अपना ही शिर पकड़िये और छाया भी पकड़ में आजाती है। स्वर्ग और नरक आपही के भीतर हैं। शक्ति आनन्द, और जीवन का मूल आपके भीतर है। मनुष्यों, प्रकृति और राष्ट्रों का ईश्वर आपके भीतर है। ऐ संसार के मनुष्यों! सुनो, सुनो, यह पाठ मकानों की सर्वोच्च छतों से, बड़े नगरों के सब चौराहों से, सब राजमार्गों से घोषित होने के योग्य है। यह पाठ उच्च स्वर से घोषित होने के योग्य है। यदि तुम किसी वस्तु को प्राप्त करना चाहते हो, किसी पदार्थ की अभिलाषा करते हो, तो छाया के पीछे न पड़ो। अपना ही शिर छुओ। अपने ही भीतर प्रवेश करो। यह अनुभव होते ही, आपको जान पड़ेगा कि तारे आपही का हस्तकौशल हैं, आप देखेंगे कि प्रेमकी सभी वस्तुयें, समस्त मनोहर और लुभाने

वाले पदार्थ आपका ही प्रतिबिम्ब या छाया मात्र हैं। यह कितना अनुचित है कि "एक टोपी और घंटियों के लिये हम अपने प्राण देते हैं, सर्वान्तःकरण के परिश्रम से हम जल-बुद्बुद कमाते हैं"।

भारत में एक नारी की एक मनोरंजक कथा है। घर में उसकी सुई खोगई। वह गरीबी के कारण अपने घर में दिया नहीं जला सकती थी, इस लिये वह बाहर निकल गई और गलियों में ढूढ़ने लगी। किसी ने पूछा, "क्या खोज रही है?"। उसने उत्तर दिया, "अपनी सुई"। भलेमानुस ने पूछा, "सुई कहां खोई थी?" औरत ने कहा, "घर में"। उसने कहा, "जो वस्तु घर में खोई थी उसकी खोज गलियों में करना कोरी मूर्खता है"। औरत ने कहा, "मैं घर में चिराग नहीं जला सकती और सड़क पर लालटैन है"। वह घर में नहीं ढूढ़ सकती थी, किन्तु कुछ न कुछ तो करना ही चाहिये, इस लिये सड़क ही की खाक क्यों न छानी जाय। लोगों की ठीक यही दशा है। स्वर्ग, दिव्यलोक, आनन्दराशि सब कुछ आप के भीतर ही है, फिर भी राजपथों के पदार्थों में आप आनन्द ढूढ़ते फिरते हैं, उस वस्तु की खोज बाहर, बाहर, इन्द्रियों के विषयों में करते रहते हैं। यह कैसा आश्चर्य्य है!

एक और दूसरी अति मनोहर कथा एक पागल मनुष्य की भारत में प्रचलित है। वह गली के दीन लड़कों के पास आया और कहा कि नगर-नायक (मेयर) एक बड़ा भोज देने की तैयारी कर रहा है, और सब लड़कों को आमंत्रित किया है। आप जानते हैं कि लड़के मिसरी और मिठाई पसन्द करते हैं। इस पागल आदमी से नगर-नायक के भोज के सम्बन्ध में भरोसा पाकर उसके घर लड़के दौड़े गये। किन्तु वहां भोज कहाँ, कुछ

भी नहीं था। लड़के चर्का खा गये, कुछ देर के लिये उनका चेहरा उतर गया, और हंसी होने लगी। लड़कों ने उससे पूछा, "कहिये महाशय ! आप तो जानते ही थे कि यह बात अलीक है, फिर आप क्यों आये?" उसने कहा, "इस आशंका से कि कहीं सत्य ही सत्य भोज न हो, बात सच निकले और मैं रह जाऊँ"। वह चूकना नहीं चाहता था, इसी कारण से उसने बालकों का अनुसरण किया। ठीक यही दशा उन लोगों की है, जो अपनी कल्पना से, अपने ही आशीर्वाद से फूलों को सुन्दरता प्रदान करते हैं, इस संसार की प्रत्येक वस्तु को चित्ताकर्षक बनाते हैं, अपनी ही कल्पना से पागल मनुष्य की भांति, प्रत्येक वस्तु को वांछनीय करते हैं, और फिर उसके पीछे इस लिये दौड़ते हैं कि कहीं वे उससे वञ्चित न रह जाँय।

उपसंहार। अपने आन्तरिक स्वर्ग को प्राप्त करो, और एक साथही सब आकांक्षायें पूर्ण हो जाँयगी, सब कष्टों और यातनाओं का अन्त हो जायगा।

"देखो ! बन के वृक्ष मेरे कुटुम्बी हैं। और मुझ में जो फुर (धड़क) रहा है उससे पहाड़ सजीव हैं। मट्टी मेरा मांस है, और लोमड़ी मेरा चर्म है। मैं डाँस से भीषण और मधुमक्खी से मधुर हूँ। फूल मेरे प्रेम के विकास के सिवाय और कुछ नहीं है। और मेरे स्वप्न के स्वर में जल बह रहा है। ऊपर लटका हुआ सूर्य मेरा फूल है। मैं मर नहीं सकता, मृत्यु चाहे सदा मेरे विस्तार में ऊपर नीचे भटकती रहे। मैं अजन्मा हूं तथापि मेरे जन्मश्वास उतने ही हैं, जितनी निद्रारहित समुद्र पर लहरें"।

अरे ! स्वर्ग तुम्हारे भीतर है, इन्द्रियों के विषयों में आनन्द का अन्वेषण न करो, अनुभव करो कि आनन्द स्वयं तुम में है।

ॐ ! ॐ !! ॐ !!!

आत्म-विकास।

(विज्ञान-सभा के भवन में स्वामी राम का व्याख्यान।)

महिलाओं और सज्जनों के रूप में मेरे ही आत्मन्!

आज रात्रि को आत्मविकास के विषय में हम लोग कुछ सुनने वाले हैं; दूसरे शब्दों में, जीवन के अंशों पर, आध्यात्मिक उन्नति की श्रेणियों पर, अथवा स्वार्थ-परता की विशुद्धता के अंशों पर आप कह सकते हैं। कदाचित जिस सिद्धान्त पर हम पहुँचेंगे वह चौकन्ना कर देगा।

विषय।

अपने सामने आप जो चक्र देख रहे हैं वह एक सीधी रेखा और मण्डलों का बना हुआ है। आप पूछेंगे कि इनका क्या उपयोग है? मण्डलों का आत्मा के विकास से क्या सम्बन्ध है? कुछ लोग अपने मनों में कह रहे हैं—ये मण्डल नहीं है, ये बड़े ही वक्र हैं, ये तो अण्डाकार वृत्त हैं। किन्तु इन मण्डलों से जीवन की उन कोटियों को प्रकट करना है जो ठीक गोल नहीं हैं, जो टेढ़ी और अण्डाकार कही जा सकती हैं, और इस व्याख्या से मण्डलों की अपूर्णता का समर्थन हो जाता है।

मण्डल।

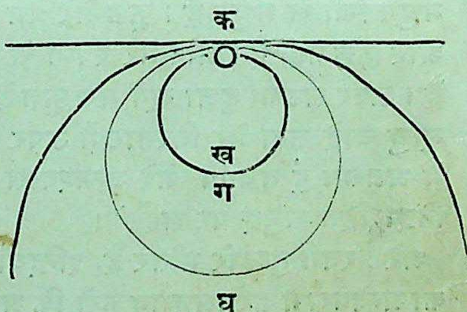

वे अपनी अपूर्णता और पथविमुखता से ठीक उसी को सूचित कर रहे हैं, जिसे उन्हें प्रकट करना है।

जीवन और उसके अंश क्या हैं, इस सम्बन्ध में कुछ कहने के पूर्व हमें इन मण्डलों के सम्बन्ध में कुछ शब्द कहना पड़ेंगे।

यह सब से छोटा मण्डल है, बहुत ही छोटा चिन्ह। यह इस से और भी छोटा बनाया जाना चाहिये था, किन्तु इस आशंका से नहीं बनाया गया कि उस अवस्था में दिखाई न पड़ेगा, और इस लिये इतना बड़ा बनाया गया है कि दिखाई पड़े। इसके बाद एक दूसरा मण्डल है, जो छोटे शिशुमण्डल से बड़ा है, और उसके बाहर तीसरा है और उसके भी बाहर चौथा है। इनकी एक विशेषता यह है कि मण्डल जितना २ फैलता, बढ़ता जाता है, मण्डल का केन्द्र उतनाही सीधी रेखा पर के प्रारम्भिक बिन्दु (क) से हटता जाता है। यह सीधी रेखा सब मण्डलों की सामान्य स्पर्शरेखा है। केन्द्र पीछे हटता जाता है, व्यासार्द्ध और मण्डल बढ़ता जाता है। यदि मण्डल का केन्द्र प्रारम्भिक बिन्दु (क) के बहुत नगीच है, और नगीच करते २ उसे यहां तक सन्निकट कर दिया जाय कि वह प्रारम्भिक बिन्दु (क) से मिल जाय तो मण्डल भी एक बिन्दु बन जाता है। इस प्रकार एक बिन्दु एक ऐसे मण्डल की हदबन्दी का स्थान है, जिसका केन्द्र प्रारम्भिक बिन्दु के बहुत ही निकट आगया है। और जब केन्द्र प्रारम्भिक स्थान से दूर हटता जाता है, तब व्यासार्द्ध बढ़ता २ अनन्त हो जाता है; अथवा जब केन्द्र अनन्तता तक सरक जाता है, तब मण्डल सीधी रेखा होजाता है। इस प्रकार से सीधी रेखा उस मण्डल की हदबन्दी का स्थान है, जिसका केन्द्र अन-

न्तता तक हट जाता है अथवा जिसका व्यासार्द्ध अनन्त है।

दूसरी विशेषता हम यह देखते हैं कि मण्डल जितनाही बड़ा है, उतनाही वह सीधी स्पर्शरेखा के सन्निकट होता जाता है, और मण्डल ज्यों २ बढ़ता जाता है त्यों त्यों उसका बांकपन घटता जाता है। इस प्रकार हमारे ध्यान में यह आता है कि बढ़का मण्डल, जिसका केन्द्र (घ) है, (ग) केन्द्र वाले भीतरी मंडल की अपेक्षा (क) बिन्दु पर कहीं अधिक सीधी रेखा के तुल्य है। और यह भीतरी मण्डल (ख) केन्द्र वाले अपने भीतरी मण्डल की अपेक्षा कहीं अधिक उसी (क) बिन्दु पर सीधी रेखा के समान है। इसी कारण से वास्तव में गोल होने परभी पृथिवी जब आप उसके किसी हिस्से पर दृष्टि डालते हैं, चिपटी दिखाई पड़ती है। पृथिवी के विभागिय मण्डल यंत्रसहायहीन नेत्रों के लिये अनन्त बड़े हैं। मण्डलों के सम्बन्ध में इतना ही यथेष्ट होगा।

जीवन।

जीवन! जीवन का मुख्य लक्षण क्या है? जीवन के अभाव अथवा निर्जीवता से जीवन का भेद किस बात से किया जा सकता है? गति, उद्योगशक्ति, अथवा कर्मण्यता से। साधारण उत्तर प्रश्न का यही है। जीवन की वैज्ञानिक परिभाषायें भी इसी परिभाषा में समा सकती है। जीवित मनुष्य हिलडुल सकता है, चलता फिरता है,सब तरह के काम कर सकता है। निर्जीव मोमिया, शक्ति के ये प्रकार अथवा गति, जीवित मनुष्य की ये हरकतें नहीं प्रकट कर सकता। मृतक पशु इधर उधर नहीं जाता, जीवित पशु चलता, दौड़ता, सब प्रकार के काम करता है। निर्जीव पौधा बढ़ नहीं सकता। वह गति से शून्य है, कर्मण्यता से बिलकुल रहित है। जानदार पौधा बढ़ता है, हर-

6451.

कत प्रकट करता है।

फिर हम देखते हैं कि साधारणतः जीवन के चार भेद किये जाते हैं अथवा यह संसार चार मुख्य वर्गों किंवा कोटियों में विभक्त है, खनिज उद्भिज्ज पशु और मनुष्य। मानव कोटि पशुओं की अपेक्षा अधिक उद्योगशक्ति, अधिक प्रगति, उच्च कोटि का व्यापार प्रकट करती है। पशु केवल चल फिर सकते हैं, दौड़ या पहाड़ों पर चढ़ सकते हैं। किन्तु मनुष्य इन सब कामों के सिवाय और बहुत कुछ करता है। वह और अनेक बातें करता है। वह उच्चतर कोटि की उद्योगशक्ति अथवा गति प्रकट करता है। दूरबीनों के द्वारा वह नक्षत्रों तक पहुँच सकता है। पशु ऐसा नहीं कर सकते। मनुष्य पशुओं पर शासन कर सकता है। वह बाष्प और विद्युत् के द्वारा समय और स्थान का उच्छेद करता है। वह पशुओं के लिये अज्ञात शीघ्रता प्राप्त करता है। वह संसार के किसी भी भाग में तुरन्त सन्देश भेज सकता है। वह हवा में उड़ सकता है। यह मनुष्य की गति, मनुष्य का उद्योग, संसार में शक्ति का प्रादुर्भाव है। उद्योग को प्रादुर्भूत या प्रकट करने में पशु मनुष्य से कम पड़ते हैं, और हम देखते हैं कि जीवन की कोटि में मनुष्य की अपेक्षा पशु नीचे पर हैं।

जीवन की चार कोटियां और उनकी तुलना।

अब उद्भिज्ज कोटि की तुलना पशु कोटि से कीजिये। शाक भी बढ़ते हैं। उन में गति है, किन्तु एकमुखी। वे केवल रेखा में बढ़ सकते हैं, एक स्थान से दूसरे स्थान को नहीं जा सकते, वे एक स्थल पर जमे हुए हैं। सब दिशाओं में उनकी शाखायें जाती हैं और जड़ें बहुत गहराई तक प्रवेश

करती हैं। किन्तु पशु कोटि में क्रिया का जितना आविर्भाव या प्रकाश होता है उसकी अपेक्षा तृणों में बहुत कम है। और इस प्रकार हम देखते हैं कि जीवन की कोटि में उद्भिज्ज पशुओं की तुलना में बहुत नीचे पर हैं। खनिज पदार्थों में कोई जीवन नहीं है। यदि हम जीवन की वही व्याख्या करें जो प्राणिविद्याविशारद करते हैं, तो उनमें कोई जीवन नहीं है। किन्तु यदि क्रिया के आविर्भाव और प्रकाश से हम जीवन की कोटियों पर ध्यान दें, तो हम कह सकते हैं कि खनिज कोटि भी एक प्रकार की प्रगति प्रकट करती है। उनमें भी परिवर्तन होता है, उनके लिये भी परिवर्तन अनिवार्य्य है।

इस प्रकार उनमें भी जीवन के अत्यन्त छोटे लक्षण हैं। परन्तु उनका जीवन बहुत ही तुच्छ है, कोटियों के सब से नीचे प्रान्त में है क्योंकि उनके द्वारा प्रकट होने वाली कर्मण्यता, गति, उद्योगशक्ति तुच्छ है, अति सूक्ष्म है। इससे यह स्पष्ट है कि स्फूर्ति से संलक्षित जीवन को गति या उद्योगशक्ति के अंशों के अनुसार कोटि प्राप्त होती है।

प्रकृति की कृपणता।

प्रकृति का प्रबन्ध यह है कि संसार में कुछ भी नवीन नहीं होना चाहिये। हम देखते हैं कि, देखने की इस अनेकता और बाह्य बहुरूपता के होते हुए भी प्रकृति या विश्व बहुत कृपण है। प्रेमी के लोचनों से एक आंसू का बहाव जिस कानून के अधीन है, वही कानून सूर्य्यों और तारों की क्रान्तियों का भी शासनकर्ता है। छोटे से छोटे अणु से लगाकर अत्यन्त दूरस्थ नक्षत्र तक को उन्हीं साधारण कानूनों द्वारा हम नियंत्रित और शासित होते देखते हैं, जो पोरों पर गिने जा सकते हैं। प्रकृति पुनः २ अपने को दोहराती है। इस विश्व

की तुलना पेंच या ढिबरी से की जा सकती है, जिसका प्रत्येक खंधाना या सूत एक ही ढंग का है। अथवा प्याज की आंड़ी से इसकी तुलना कर सकते हैं। एक पर्त उतार डालिये वैसा ही दूसरा पर्त उपस्थित है, अब इसको भी उतार डालिये फिर वैसाही और हमारे सामने है। इसको भी निकाल डालिये और ठीक ऐसा ही एक और पर्त आप देखेंगे। ठीक इसी प्रकार से, पूरे साल भर में जो कुछ होता है वही छोटे परिणाम में हर दिन में घटित होता रहता है। सबेरे के समय का मिलान वसन्त ऋतु से किया जा सकता है। दोपहर की तुलना ग्रीष्म से हो सकती है। तीसरे पहर और सायङ्काल की तुलना शरद से हो सकती है, और निशा की जाड़े से। इस प्रकार चौबीस घंटों में छोटे परिमाण में सम्पूर्ण वर्ष का नया जन्म हो जाता है। गर्भस्थित मनुष्य आश्चर्य्यजनक शीघ्रता से मानवस्वरूप धारण करने से पहले की सब योनियों के, जिनमें उसने वास किया है, अतीत अनुभवों की पुनरावृत्ति करता है। पिंड मानव-शिशु के रूप में आने के पूर्व क्रम से मछली, कुत्ता, बन्दर इत्यादि के रूपों को, अंडे में धारण करता है। इस प्रकार विकासवाद के साधारण नियम के अनुसार, सारे संसार का शासन करने वाले साधारण कानून के अनुसार हम पता लगाना चाहते हैं कि शरीर अथवा मनुष्य की आकृति में भी क्या कार्य्यतः खनिज उद्भिज्ज और पशु कोटियों की पुनरुत्पत्ति है। क्या मनुष्य के रूप में ऐसे लोग भी नहीं हैं, जो मानों खनिज ही हैं। मनुष्य के रूप में क्या ऐसी व्यक्तियां नहीं हैं जो उद्भिज्ज कोटि की अवस्था में हैं, और क्या ऐसे लोग भी मनुष्यरूप में नहीं हैं जो पशु कोटि की दशा में हैं। हम उन मनुष्यों को भी देखना चाहते हैं, जो वास्तव में मनुष्य हैं, और जो मानव रूप में देवता हैं।

पहले हम नैतिक और आध्यात्मिक खनिजों को लेते हैं।

खनिज मनुष्य।

खनिज कोटि देखने में किसी प्रकार की गति नहीं प्रकट करती है, बाहर से किसी प्रकार की उद्योग-शक्ति नहीं दिखाती। किन्तु तथापि उसमें किसी प्रकार की उद्योगशक्ति, कर्मण्यता और गति है ही। क्योंकि, हम खनिजों को बदलते देखते हैं, खनिजों में भी वृद्धि और विश्लेषण की क्रिया पायी जाती है। वे घन होते और बढ़ते हैं। समुद्र की तुलना में हमें अचल दिखायी पड़ने वाली यह पृथिवी, यह सुदृढ़ प्रतीत होनेवाली पृथिवी गिरती है, बदलती है, लहरों की तरह नीची ऊँची होती रहती है। इस प्रकार खनिजों में एक प्रकार की गति है, यद्यपि बहुत करके अलक्षनीय।

अब, मनुष्य के रूप में वे कौन हैं जिनमें खनिजों की सी ही गति है, दूसरे शब्दों में, जिनमें उसी प्रकार की गति है जैसी बच्चों की फिरकी या लट्टू में। फिरकी या लट्टू घूमता है, बार २ चक्कर काटता है, वह डोलता है, और जिस समय वह बड़े वेग से नाचता रहता है, लड़के आकर ज़ोर से ताड़ियां बजा २ कर प्रसन्नता से कहते हैं, यह अचल है, यह डोलता नहीं है। यह आत्म-केन्द्रित गति है, चकराती हुई गति है, किन्तु चक्कर का केन्द्र शरीर के अन्तर्गत है, और गति की अत्यन्त उग्रता के समय भी, देखने में कोई गति नहीं प्रतीत होती है।

आप जानते हैं कि, इस संसार में सब गतियां मण्डलाकार हैं, सीधी रेखा में कोई गति नहीं होती। सम्पूर्ण विज्ञान इसे सिद्ध करता है। इस कारण से गति के आविर्भाव के प्रतिनिधित्व के लिये हम मण्डलों का उपयोग करेंगे। गणित-

विद्या में गति का प्रतिनिधित्व रेखायें करती हैं। प्रस्तुत मामले में गोलाकार रेखाओं से खूब काम निकलेगा।

इस खनिज जगत को हम ज़िस गति का अधिकारी पाते हैं, वह फिरकी की गति के तुल्य है। आपके सामने जो आकृति (चक्र) है उसको यह लघुतम मण्डल, जो बिन्दु कहा जा सकता है, उसे भली भांति प्रकट कर सकता है। मनुष्यों में वे कौन हैं, जिनकी गति लट्टू की गति के तुल्य है, जिनका चक्कर या प्रगति का मार्ग एक बिन्दू मात्र है, जिनका जीवन खनिजों का जीवन है ? ज़रा विचार कीजिये। स्पष्टतः ये वही मनुष्य हैं, जिनके सब कामकाज एक छोटे से बिन्दु झूठी आत्मा, साढ़े तीन हाथ लम्बे शरीर के छोटे से दायरे में एकत्रित हैं। वे अत्यन्त संकुचित कोटि के स्वार्थी हैं। ये वे लोग हैं, जिनके सब कार्य इन्द्रिय-तृप्ति के लिये हुआ करते हैं। ये लोग विभिन्न प्रकार के कार्य करते हैं, सब तरह के परिश्रम करते हैं, किन्तु एक मात्र उद्देश्य है केवल अधःपतनकारी सुखों की तलाश। इन्हें स्त्री और बच्चों के भूखों मरने की परवाह नहीं होती, पड़ोसी मरें या जियें इन्हें क्या, कुछ भी हो वे मद्यपान करेंहीगे, मौज उड़ावेंगे, हीन प्रकृति की आज्ञाओं का पालन अवश्य करेंगे। उनकी दुर्वृत्त आवश्यकतायें पूरी होना ही चाहिये, उनके कुटुम्ब और समाज के स्वार्थों की हानि हो जाय तो बलाय से। विषय-वासना की तृप्ति के सामने उन्हें अपनी स्त्री और बच्चों के भूखों मरने की कोई फिक्र नहीं होती। उनकी सब प्रगतियों का केन्द्र, जिस किरण-बिन्दी (वह बिन्दु या केन्द्र जहां तेज की किरणें एकट्ठा मिलती हैं) के इर्दगिर्द वे घूमते हैं, जिस सूर्य का वे चक्कर

काटा करते हैं, उनकी कक्षा का केन्द्र केवल तुच्छ शरीर है। उनकी कर्मशीलता या गति निर्जीव गति है। यही मनुष्य में खनिज जीवन है। संसार के इतिहास में अनेक अति सुहावने और मूल्यवान मनुष्यरूपी खनिज हुए हैं। आप जानते हैं हीरे भी खनिज जगत की वस्तु हैं। लाल,मोती,रत्न और सब तरह के क़ीमती पत्थर भी उसी कोटि की चीज़ें हैं।

रोम के इतिहास का एक वह समय था, जब नीरो, टाइबेरियस तथा अन्य सीज़र नाम के राजा थे,जिनके नाम लेना भी आप के कान अपवित्र करना है। बड़े २ शक्तिशाली शासक, सम्राट हो गये हैं, किन्तु वे अति मूल्यवान खनिजों के सिवाय और कुछ भी नहीं थे,मनुष्य नहीं थे। इन सम्राटों को आप क्या समझेंगे, जो अपने जाने हुए समस्त संसार के राजा तो थे, परन्तु अपने राज्य के स्वार्थों की तिनका भर भी परवाह नहीं करते थे। जो अपने मित्रों और परिजनों का कुछ भी विचार नहीं करते थे। और अपनी रानियों, प्रजाजन तथा मित्रों के सुख-दुख को भूल कर अपनी पाशविक वासनाओं की तृप्ति में लगे रहते थे। आप उनसे और उनके किये हुए पातकों से अवगत हैं, इनमें से एक को समस्त दिन सुस्वादु व्यञ्जन खाते रहने का दुर्व्यसन हो गया था। जब कोई अत्यन्त सुस्वादु पदार्थ उसके सामने आ जाता था, तो उस समय तक वह अपना मुँह नहीं फेरता था, जब तक कि पेट बिल्कुल जवाब नहीं दे देता था। तदुपरान्त औषधियों की सहायता से सब कुछ उगल दिया जाता था। पेट खाली होने पर फिर वह खाने में लग्गा लगा देता था। एक ही दिन में इस प्रणाली की अनेक आवृत्तियां होती थीं। अग्निकाण्ड देखने की आकांक्षा पूरी करने के लिये एक ने संसार की राजधानी

जला दी थी। इसको आप क्या समझते हैं ? निस्सन्देह ये मूल्यवान हीरे थे, रत्न थे, किन्तु मनुष्य नहीं थे। ये मानव जगत में खनिज हैं।

अब हम मनुष्य रूप में उद्भिज्जों की अवस्था पर आते हैं।

उद्भिज्ज मनुष्य।

खनिज मनुष्य के क्षुद्र स्वार्थपूर्ण छोटे मण्डल से उनका मण्डल बड़ा है। इनका मण्डल बड़ा है और ये लोग खनिज मनुष्य से बहुत ऊँचे हैं। इनकी कर्मशीलता की तुलना घुड़दौड़ी घोड़े की गति से की जा सकती है। घुड़दौड़ी घोड़े का मण्डल फिरकी या लट्टू से बड़ा है। चक्र में उनका मण्डल दूसरे मण्डल से, जिसका केन्द्र (ख) है, व्यक्त किया गया है। ये लोग कौन हैं ? प्रत्येक अन्य मनुष्य के स्वार्थ को भेंट चढ़ा कर ये लोग केवल अपनी इन्द्रियासक्ति को संतुष्ट करने के लिये अपने काम में नहीं लगते हैं। वे कुछ और साथियों के हित का भी ध्यान रखते हैं। ये वे लोग हैं, जो अपनी स्त्री और बच्चों के पारिवारिक मण्डल के इर्दगिर्द घूमते हैं। स्वार्थी खनिज मनुष्यों से ये कहीं श्रेष्ठ हैं, क्योंकि ये केवल अपनेही शरीर का हित नहीं साधते, किन्तु अपनी स्त्री और बच्चों के पक्ष को भी पुष्ट करते हैं। अनेक छोटे मण्डल दूसरे मण्डल में सम्मिलित हैं। इसी तरह से ये लोग भी अपनी छोटी आत्मा के सिवाय अनेक छोटी आत्माओं की भलाई करते हैं। किन्तु क्या इन्हें निःस्वार्थपर कहना चाहिये ? कदापि नहीं। इन लोगों के मामले में आत्मा का केवल कुछ विस्तार हो गया है। खनिज मनुष्य के मामले में, आत्मा इस छोटे से शरीर तक परिमित थी। और इन लोगों के मामले में, आत्मा की कौटम्बिक मण्डल से, उनके स्त्री और बच्चों से प्रायः एकता

हो गई है। यह भी स्वार्थपरता है, किन्तु कुछ संशोधित है। ये लोग अपनी पहुँचभर बड़े भले आदमी हैं। किन्तु इनके प्रतिनिधिस्वरूप दूसरे मण्डल की ओर देखिये। यह अपने भीतर की सब वस्तुओं के लिये अनुकूल है। यह अनुकूलता क्या चीज़ है? प्रेम के हाथों का लिपटाना चिपटाना अनुकूलता है। अपने हाथ फैलाकर एक मण्डल बनाइये। यही अनुकूलता है। यह मण्डल कुटुम्बियों के लिये अनुकूल है, उन सब बिन्दुओं की ओर मुख किये है जिनका आलिङ्गन करता है, किन्तु अपने से बाहर के सारे संसार की ओर पीठ फेरे है।

ये लोग अपनी दौड़ तक के लिये, जहां तक इनकी अनुकूलता या फैले हुए हाथों की पहुँच है, बहुत अच्छे हैं। किन्तु सारे संसार की ओर ये अपनी पीठ फेरे हैं। उद्भिज्ज मनुष्य के दूसरे मण्डल में फिरनेवाले इन मनुष्यों की स्वार्थ-परता उस समय खुलजाती है, जब एक कुटुम्ब के स्वार्थ दूसरे कुटुम्ब के स्वार्थों से टकराते हैं। और तब एक कुटुम्ब के सब मनुष्यों से दूसरे कुटुम्ब के सब मनुष्यों का खूब विवाद और फिसाद होता है।

पशु मनुष्य।

अब हम तीसरे मण्डल पर आते हैं। ये पशु-मनुष्य हैं, मनुष्यों के रूपों में पशु। यह तीसरा मण्डल, जो चक्र में (ग) केन्द्र करके दिखाया गया है, पूर्वगामी दोनों से बड़ा है। इसकी तुलना मौसमी हवाओं (अयन वायुओं—दक्षिणायन और उत्तरायन) से (बने हुए मण्डलों से) की जा सकती है। यह उन लोगों का स्थानापन्न है, जिन्होंने अपनी एकता ऐसी वस्तु से करली है, जो इस तुच्छ शरीर अथवा कौटुम्बिक मण्डल से ऊँची (या विशाल) है। ये लोग अपने वर्ग या दल या राज्य से अपनी एकता मान

लेते हैं। वे लोग साम्प्रदायिक हैं,जो अपनी किसी उपजाति या कला-कौशलीय बिरादरी को अपनी अनन्यता की हद बना लेते हैं। वे बड़े अच्छे हैं,सचमुच बड़े उपयोगी हैं, उद्भिज्ज मनुष्यों से कहीं अधिक काम के हैं। उनके चक्कर के व्यासार्द्ध की लम्बाई ज्यादा है। ये लोग अभिनन्दनीय हैं। आप जानते हैं कि इनकी उपयोगिता का फैलाव अनेक कुटुम्बों और व्यक्तियों तक होता है। इनकी भुजायें जिन लोगों का प्रेमालिंगन करती हैं उनके लिये ये उपयोगी हैं। जिन लोगों के प्रति इनका भाव अनुकूलता का है, उनके लिये ये काम की चीज़ें हैं। ये लोग केवल अपने नन्हे से शरीर अथवा एक परिवार या घर का ही हित नहीं साधते, किन्तु उस समस्त वर्ग या दल का पक्ष पुष्ट करते हैं, जिससे अपने स्वयं की इन्हों ने अभिन्नता मानली है। ये बड़े ही उपयोगी हैं। क्या ये भी स्वर्थी हैं ? क्यों नहीं. अवश्य हैं। ये भी स्वार्थपरायण हैं। ये अन्य दलों या उपजातियों की हानि करके उस दल की भलाई का प्रयत्न करते हैं, जिससे उन्हों ने अपनी एकता मान रक्खी है। यदि आप इन लोगों की कमियां जानना चाहते हैं, तो इनके मण्डल से बहिर्गत सब बिन्दुओं के प्रति इनके भाव पर दृष्टि डालिये। इनके मण्डल से बाहर जो कुछ है उसकी ओर पीठ फेर देते हैं। जब इनकी साम्प्रदायिकता (दलबन्दी का भाव) घनीभूत (दृढ़) और अचल हो जाती है, तो भिन्न मतावलम्बियों को बुरा भला कहते नहीं चूकते। यह एक वर्ग है,और वहां दूसरा वर्ग है। इसी प्रकार का दूसरा मण्डल। इन दोनों के एक दूसरे के विरुद्ध फिर जाने पर एक मण्डल के सब व्यक्तियों से दूसरे मण्डल के सब व्यक्तियों का लड़ना-मरना शुरु हो जाता है। समझ रखिये, यदि वे कुछ की भलाई करते हैं, तो दूसरे समाजों

और प्रतिस्पर्धी सम्प्रदायों से युद्ध छेड़ कर उतनी ही हानि भी करते हैं, यदि अधिक नहीं। एक समग्र दल दूसरी ओर स्थित समग्र दल से लड़-झगड़ रहा है। इससे कितने असंतोष की उपज होती है! फिर भी ये लोग उद्भिज्ज कोटि के लोगों से कहीं अधिक वांछनीय हैं।

प्रकृति का नियम है कि तुम एक स्थान पर गतिशून्य होकर नहीं रह सकते, तुमको चलना चाहिये, आगे और आगे बढ़ते जाओ। परिवर्तन और प्रगति के विरोधी या जड़ता के अधीन न हो। जब लोग खनिज-मनुष्य की अवस्था में हैं, तो दूसरी उच्चतर अवस्था उद्भिज्ज-मनुष्य की होगी और इसके बाद की उच्चतर अवस्था पशु-मानव की होगी। यदि ऊपर की ओर चढ़ता और आगे बढ़ता हुआ मनुष्य पशु-मानव की अवस्था से होकर निकलता है, तो यह अच्छा ही है। पशु-जगत में होकर किसी मनुष्य के गुजरने में कोई भी हानि या अनौचित्य नहीं है, यह सर्वथा ठीक है। उसी समय सब बातें बिगड़ती हैं, हरेक चीज़ अस्तव्यस्त हो जाती और हानि पैदा करती है, जब किसी मत या सम्प्रदाय के हाथ अपनी स्वाधीनता बेंच कर, हम एक स्थान पर रुक कर अचल होजाने की इच्छा करते, तथा और आगे बढ़ना अस्वीकार करते हैं। किसी न किसी समय उस दशा में हो कर गुजरना सब के लिये स्वाभाविक है। किन्तु उसमें चिपक रहना और उसे चिरस्थायी बनाने की चेष्टा करना मनुष्य के लिये अनुचित है। उसका उस विशेष नाम का दास बन जाना अथवा अपनी स्थिति को स्थिरता प्रदान करना ही अनुचित और हानिका कारण है। जब सोडोम और गोमोरा नगर नष्ट किये जा रहे थे, लोट की

स्त्री लौट पड़ी थी। वह नगर छोड़ रही थी, परन्तु उसने फिर मुँह मोड़ा। वह नगर में रहना चाहती थी, उसका चित्त वहां लगा हुआ था और उसने फिर लौटना चाहा। फल यह हुआ कि वह जहां की तहां लवण का स्तम्भ हो गई। ठीक यही दशा उन लोगों की है जो ऊपर की ओर चढ़ते रहते हैं और जो अपनी पूर्वीय स्थिति से हटते रहते हैं, तथा जो आगे बढ़ना अस्वीकार करते हैं। पहली दशा उनके लिये अच्छी है, किन्तु ज्योंही वे पीछे लौटना चाहते हैं, एवं आगे बढ़ना अस्वीकार करते हैं, और अपने को नामों तथा रूपों के हाथ बेंच डालते हैं, उसी क्षण वे अपने को लवण के स्तम्भ में बदल लेते हैं। ऐसी स्थिरता या धर्मान्धता क्लेश का कारण होती है। ये पशु-मनुष्य अच्छे मनुष्य भले ही हों, परन्तु उन्नति करना आवश्यक है, आप आगे बढ़े चलिये।

देश भक्त मनुष्य।

अब हम चौथे मण्डल पर आते हैं, पटरे पर जो केन्द्र (घ) के साथ खचित हुआ है। यह मनुष्य रूप में मनुष्य है। यह साधारण मनुष्य है। उसके मण्डल का मिलान चन्द्र-मण्डल से किया जा सकता है। चन्द्रमा पृथिवी के गिर्द एक मण्डल खींचता है। इसकी आकृति गोल की अपेक्षा अण्डाकार अधिक है। यह चन्द्र-मनुष्य कौन है? चन्द्रमा का मार्ग बहुत बड़ा है। चन्द्र-मनुष्य कदाचित् सुखी है। यह मनुष्य सम्पूर्ण राष्ट्र या जाति से अपनी एकता स्थापित करता है। आप उसे देशभक्त कह सकते हैं। उसका मण्डल बहुत बड़ा है। जिनकी सेवा में वह लगता है वे किस सम्प्रदाय-युक्त हैं, इसकी उसे परवाह नहीं होती। जाति-पांति, रंग, और पद का ध्यान छोड़कर वह अपने देश के समस्त निवासियों का पक्ष पुष्ट करना ही अपना कर्त्तव्य समझता है। वह हार्दिक स्वा-

गत के योग्य है, बड़ा ही भला है। वह मनुष्य है, किन्तु इससे अधिक नहीं। आप जानते हैं कि चन्द्रमा समुद्र में संक्षोभ का कारण होता है, ज्वार और भाटा पैदा करता है। इसके सिवाय, आप जानते हैं कि पागल भी चन्द्रोपहत कहे जाते हैं। निस्सन्देह, चन्द्रमण्डल अच्छा मण्डल है। किन्तु उस अवस्था का विचार कीजिये जब चन्द्र-नर अपनी स्थिति अचल बनाते हैं, जब ये लोग स्वार्थपरायण हो जाते हैं और इनकी स्वार्थपरता में घनता आती है। इनकी स्वार्थपरता का अर्थ है देशभक्ति, जब वह कठोर बनादी जाती है, जब उस में घनता आजाती है। इसका क्या फल होता है? वह क्रान्तियां और पागलपन पैदा करती है। वह एक राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र का विरोधी बनाती है, और तब संग्राम तथा खूनखराबा होता है। हज़ारों और कभी २ लाखों प्राणी रक्त बहाते, गिराते और पान करते हुए इस सुन्दर पृथिवी का सुमुख नरमेध से लज्जित तथा रक्त से लाल कर देते हैं। जिन्हें वे अंक में भरते हैं, जिनके प्रति वे अनुकुल हैं उनके लिये वे बहुत अच्छे हैं। किन्तु जिनके विरुद्ध वे उलटे या प्रतिकुल हैं उनके प्रति उनके भाव पर ध्यान दीजिये। वाशिंगटन अमेरिकनों के लिये बहुत अच्छा है, किन्तु ज़रा अंग्रेज़ों के मनसे तो पूछिये। अंग्रेज देशभक्त, जहां तक उस देश का सम्बन्ध है जिसे वे अपना कहते हैं, बहुत अच्छे हैं, किन्तु जिन जातियों का जीवन रक्त उनकी देशभक्ति चूस रही है, उनके सम्बन्ध में उनका विचार कीजिये।

देवमनुष्य।

सब के अन्त में हम पांचवें मण्डल पर आते हैं। इसका केन्द्र अनन्तता तक पहुँचता है, अथवा यों कहिये कि व्यासार्द्ध अनन्त हो जाता है। और मण्डल का क्या होता है? जब व्यासार्द्ध अनन्तता की खबर लेता है तब

मण्डल सीधी रेखा हो ही जायगा। सब बांकपन जाता रहा। सीधी रेखा सर्वत्र ही समता और विना पक्षपात के गुज़रती है। न तो यह किसी के लिये अनुकुल है, न प्रतिकुल। मण्डल ठीक रेखा, सीधी रेखा हो जाता है। सारा टेढ़ापन मिट गया। सारी बंकता लुप्त हो गई। ये देवमनुष्य हैं। इनके मण्डल की तुलना सूर्यकृत मण्डल से की जा सकती है। आप जानते हैं कि सूर्य की गति सीधी रेखा में होती है। उसके मण्डल का व्यासार्द्ध असीम है। सूर्य्य प्रभा का पुंज है। यह एक ऐसा मण्डल है जिसका केन्द्र सर्वत्र है, और घेरा या परिध कहीं नहीं। यह देव-मण्डल है। ये मुक्त पुरुष हैं। सब कष्ट, भय, शारीरिक आकांक्षाओं और स्वार्थपरता से मुक्त, ये स्वाधीन मनुष्य हैं। क्या सीधी रेखा में हम कोई स्वार्थपरायणता नहीं पाते हैं? सीधी रेखा सीधी रेखा है, उसमें कहीं पर भी कोई अटकाने वाला विषयबिन्दु हम नहीं देखते हैं। यह स्थान से होकर गुज़रती है, कोई स्वार्थी छोटा केन्द्र ऐसा नहीं है जिसका यह चक्कर काटे, कोई भी चीज़ इसे घुमानेवाली नहीं है। यहां स्वार्थपरता का विनाश हो जाता है. अथवा आप कह सकते हैं कि, यहां वास्तविक आत्मा की उपलब्धि होती है। आप देखते हैं कि हमने बिन्दु-मण्डल, स्थूल स्वार्थपरता से प्रारम्भ किया था और अब उस छोटे से बिन्दु ने बढ़, फैल और विकासित होकर सीधी रेखा का रूप धारण किया है। ये देवमनुष्य हैं। ये वे लोग हैं जिनका घर यह विशाल विश्व है, जाति, पांति, समाज, सम्प्रदाय, देश, रंग जिनके लिये एकसमान है। अब आप अंग्रेज हों या अमेरिकन, बौद्ध हों या मुसलमान, अथवा हिन्दू हों, या कोई भी हों, आप राम की आत्मा हैं। आप उसके लिये आत्मा की आत्मा हैं। यहां स्वार्थपरता की

अद्भुत वृद्धि होगई है, यह एक अनूठे प्रकार की स्वार्थपरायणता है। विस्तृत संसार मैं स्वयं हूँ। विश्व ऐसे मनुष्य की आत्मा है। विशाल जगत, छोटे से छोटा प्राणी, खनिज उद्भिज्ज, इन सब की आत्मा इस मनुष्य की आत्मा होजाती है।

इस पूर्ण मुक्तावस्था को पहुँचे हुए महात्मा के पास एक शिष्य आया और लगभग एक वर्ष तक उसकी सेवा में रहा। शिष्य जब गुरू से बिदा होने लगा तो भारतीय रीति के अनुसार वह चरण छूने तथा साष्टाङ्ग दण्डवत करने लगा। गुरू ने मुसकयाते हुए उसे उठाया और कहा, "प्यारे, तुम्हारी शिक्षा अभी पूर्ण नहीं हुई। अभी तुम में बड़ी कमी है। कुछ काल तक और ठहरो"। कुछ दिन गुरुदेव के पवित्राश्रम में वह और रहा, तथा अधिकाधिक अनुप्राणित होता रहा (उपदेश पाये)। उसे आत्मानुभव होगया। वह विशुद्ध आत्मा से परिपूर्ण था। वह गुरू के आश्रम से चला गया, यह भी ध्यान उसे नहीं रह गया था कि वह चेला है या स्वयं गुरू। समग्र संसार,विशाल विश्व को अपनी वास्तविक आत्मा समझता हुआ वह चल दिया। और समग्र संसार जब उसकी वास्तविक आत्मा हो गया, तो वह आत्मा कहां जा सकता था? जब आत्मा प्रत्येक अणु और परमाणु में व्याप्त है, प्रत्येक अणु और परमाणु को परिपूर्ण किये है, तो वह कहां जा सकती है? ऐसे पुरुष के लिये जाने और आने की बात निरर्थक हो जाती है। आप एक स्थान से दूसरे स्थान को तभी जा सकते हैं, जब जिस स्थान को आप जाना चाहते हैं वहां पहले ही से न हों। अब वह अपने को, प्रकृत स्वयं को, अन्तर्गत परमात्मा को, सर्वव्यापी परमात्मा को खोज चुका था, और जाने या आने का विचार उसे कैसे हो सकता था? जाने और आने के विचार उसके लिये लोप

हो गये। वह आत्मानुभव की अवस्था में था। शरीर का जाना एक प्रकार का प्रतिबिम्ब-क्रिया थी। वह अपने में था, उसके लिये जाना या आना कैसा। तब गुरू जी संतुष्ट हुए। इस प्रकार गुरु ने परीक्षा ली और उसकी निर्मल योग्यता प्रमाणित की। शिष्य ने गुरू को धन्यवाद नहीं दिया और न प्रणाम किया। इस दर्जे तक एकता में वह लीन हो गया था कि धन्यवाद की भावना बहुत पीछे छूट गई थी। तब गुरू ने जाना कि उसने मेरे उपदेशों का ठीक २ मर्म समझा है। यह पूर्णावस्था है, जिसमें यदि आप उस मनुष्य का आदर करते हैं, तो वह कहता है कि तुम मेरा निरादर कर रहे हो। "मैं इस शरीर में अवरुद्ध नहीं हूं, मैं यह छोटा सा शरीर मात्र नहीं हूँ, मैं विशाल विश्व हूं, मैं तुम हूँ, और अपने ही में मेरा सन्मान करो"। यह उस मनुष्य की दशा है जो कोई वस्तु तुम्हारे हाथ बेंचता नहीं है। यह उस मनुष्य की दशा है, जिसके लिये शरीर का मान और अपमान निरर्थक है, यश और अपयश कुछ भी नहीं हैं।

भारत में एक साधु के पास एक मनुष्य, जो राजा था, आया और साष्टाङ्ग दण्डवत की। साधु ने राजा से इस विनय का कारण पूछा। राजा ने कहा, "महाराज! पूज्य महात्मा जी! आप साधु हैं और आपने इस राज्य को त्याग कर, जिसके आप पहले शासक थे, यह आश्रम ग्रहण किया है। आप बड़े त्यागी महानुभाव हैं, इस लिये मैं आपको ईश्वरवत् समझता हूं और आपकी उपासना करता हूँ"। आप जानते हैं, भारत में धनवानों का अधिक आदर नहीं होता है। भारत में लोगों का आदर उनकी त्याग की मात्रा के अनुसार होता है और वहां मान का मुख्य सिद्धान्त यहां से भिन्न है। सर्वशक्तिमान धनदेव की अपेक्षा परमात्मा पर

अधिक भरोसा किया जाता है। राजा त्यागी पुरुष का सत्कार कर रहा था। साधु ने राजा को उत्तर दिया, "यदि इस कारण से तुम मुझे प्रणाम कर रहे हो, तो मुझे तुम्हारे चरण धोना चाहिये, झुक कर प्रणाम करना चाहिये। क्योंकि, ऐ राजा! इस संसार के सब साधुओं के त्याग से तुम्हारा त्याग अधिक है"। यह बड़ी ही विचित्र बात है। यह कैसे हो सकता है? तब साधु ने समझाना शुरू किया। "कल्पना करो कि, एक मनुष्य एक भव्य भवन का अधिकारी है और उसका कूड़ा करकट उसने बाहर फेंक दिया है। वह घर का केवल गर्द-गुबार त्यागता है या बाहर फेंकता है। क्या वह त्यागी है?" राजाने कहा, "कदापि नहीं, वह त्यागी नहीं है"। इस के बाद साधु ने कहा, 'दूसरा आदमी घर का कूड़ा करकट तो जमा करता है और सारा मकान, विशाल भवन त्याग देता है। इस मनुष्यको तुम क्या समझोगे?" राजा ने कहा, "यह मनुष्य जो केवल कूड़ा करकट सञ्चय करता है और प्रासाद त्यागता है, त्यागी मनुष्य है"। इस पर साधु ने कहा, "भाई! राजन्, तब तो तुम्ही त्यागी हो, क्योंकि वास्तविक आत्मा परमेश्वर को, जो भव्य भवन है, वास्तविक घर, स्वर्ग स्वर्गों का स्वर्ग है, तुमने त्याग दिया है, और केवल उसका कूड़ा करकट, यह शरीर, यह तुच्छ स्वार्थपरता तुमने रख छोड़ी है। मैंने कुछ भी नहीं त्यागा है। मैं स्वयं ईश्वरों का ईश्वर हूँ? संसार का स्वामी हूँ"।

कभी २ इन लोगों को इन सिद्ध महात्माओं को जो उन्नति की चरम अवस्था में पहुँच गये हैं, कुछ लोग तुच्छ समझते और सनकी कहते हैं। किन्तु ज़रा इनसे पूछिये तो सही कि भला एक क्षण के लिये भी ये अपना दैवी आनन्द, परम सुख जो इन्हें ईश्वरमद में प्राप्त होता है, संसार की समस्त

सम्पत्ति और वैभव से बदलने को तैयार हैं ? कदापि नहीं, कदापि नहीं। इन्द्रियगत सुखों के द्वार पर, रक्तमांस की देह के द्वार पर जा २ कर हाथ फैलाने के अभ्यासी, सम्पत्ति- शाली कहलानेवालों का भिखारीपन का भाव इन्हें तुच्छ और तरस के योग्य दिखाई पड़ता है। आनन्द आपके अन्तर्गत है। तो फिर शोचनीय और पीड़ित अवस्था में इधर उधर भटक कर भिखारी का स्वांग, क्षुद्र कण का सा बर्ताव क्यों करते हो ? आओ, अपनी अन्तरात्मा, सर्वशक्तिमान् परमेश्वर का अनुभव करो, और पूर्णानन्द में डूब कर यह गीत गाओ।

'मैं कण हूँ रवि की किरणों में, भानु प्रज्वलित भी मैं हूँ,
'यां विश्राम करो,' यह आज्ञा अणुगण को देता मैं हूँ।
पृथिवीमण्डल, नभ के ग्रह सब मंगल, बुध, गुरु, शनि, राकेश,
'बढ़े चलो' शुभ कर्म तुम्हारा और यही मेरा आदेश ॥
मैं ऊषा की लाली हूँ, फिर सांझ समय की मन्द समीर,
मन्द ध्वनी हूँ पक्षी की, त्यों सागर का कलरव गम्भीर।
प्रेमिकी सावेश विनय, कोमल युवती की भयबानी,
योद्धा, असि जो करती हत, मृदु मातृहृदय की दुःखखानी॥
पुष्प मनोहर, भ्रमर मही हूँ, गलों से उठने वाली तान,
चकमक पत्थर, चिनगारी, लौ, औ पतिंग जो देता जान।
नशा और अंगूर सभी कुछ, मद्य, मुश्क, भभका ताली,
सत्कारी, पुनि अतिथि, यात्री, सुन्दर रत्नों की थाली ॥

मन मारि रहे लखि तेरि प्रभा, सब साज सजावट राजन की।
स्वर्ग तुही जगज्योति औ ज्ञान है आनद राशि अराधन की॥

ॐ! ॐ!! ॐ!!!

उपासना ।

युयोध्यस्मज्जहुराणमेनो । भूयिष्ठांते नमउक्तिं विधेम ॥

(शु० यजु० सं०)

उड़ें टेढ़ी बांकी ये चालाकियां सब ।
रहें ढाल तलवार इक आप ही अब ॥

मन को देव के 'पास बिठाना' उपासना है, अथवा उपासना उस अवस्था का नाम है जहां रोम रोम में राम रच जाय, मन अमृत में भीग जाय, दिल आनन्द में डूब जाय । इसके तीन दरजे हैं, जैसे पत्थर की शिला का गंगा में शीतल हो जाना, कपड़े की गुड़िया का अन्दर बाहर जल में निचुड़ने लग जाना, और मिसरी की डली का गंगा रूप होजाना । कभी कभी भजन, ध्यान, आराधना, अनुसन्धान आदि भी इसी को कहते हैं, सीधी सादी बोल चाल में ईश्वर को याद (स्मरण) करना उपासना है ।

खबरदार, भूलने न पाय !

पश्यञ्श्रृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ।
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ॥ (गीता)

अटल नियमः-पाठक ! बहुत बातों से क्या लाभ ? एक ही लिखते हैं आचरण में लाकर परताललो, ठीक न हो तो लेखक के हाथ काट देना और जिह्वा निकाल डालना । ज़रा कान खोल कर सुन लो और दिल की आंख खोल कर पढ़ लो । प्यारे, कूप में कूद कर नीचे न गिरना तो कदाचित् हो

भी सके, परन्तु जगत के किसी पदार्थ की चाह में पड़ कर क्लेश से बच जाना कभी नहीं हो सकता। सूर्य्य उदय हो और प्रकाश न फैले यह तो कदाचित् हो भी जाय, परन्तु चित्त में पवित्र भाव और ब्रह्मानन्द होने पर भी शक्ति, श्री आदि मानो हमारी पानी भरने वाली दासी न हो जांय, कभी नहीं हो सकता, कभी नहीं। मीनार पर चढ़ कर नक्कारे की चोट पुकार दो:—

सत्यमेव जयते नानृतम्' ॥ [मुण्ड० उप०]
सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ॥ [तैत्ति० उप०]

वह सत्य क्या है ?

तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचोविमुञ्चथ ॥
[मुण्ड० उप०]

बस एक आत्मज्ञान है अमृत रस की खान।
और बात बक बक बचन झक झक मरना जान ॥

नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ [श्वेत० उप०]

ज्ञात्वातं मृत्युमत्येति नान्यः पन्था विमुक्तये ॥
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥
[कठ० उप०]

असन्नेव स भवति। असद्ब्रह्मेति वेद चेत् ॥
अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद ॥ सन्तमेनं ततो विदुः ॥
[तैत्ति० उप०]

कभी न छूटे पीड़ दुःख से जिसे ब्रह्म का ज्ञान नहीं ॥
जै नर राम नाम लिव नाहीं सो नर खर कुक्कुर सूकर सम।
वृथा जियें जग माहीं ॥ [तुलसीदास]
सूर सुजान सपूत सुलक्षण गणियन गुण गरुआई।
बिन हरि भजन इंदारुण के फल तजत नहीं करुआई ॥
सो संगति जल जाय कथा नहीं राम की।

बिन खेती के बाड़ भला किस काम की ॥
जो नयन कि बेनीर हैं बेनूर भले हैं ॥

लक्ष ।

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ [कठ० उप०]

शरीर रूपी बग्गी में जीवात्मा ने बैठ कर, बुद्धि रूपी साईस द्वारा मन की लगाम डोरी से इन्द्रियों के घोड़ों को हांकते २ आख़र जाना कहां है ? "विष्णोः परमं पदम्"

लक्ष तो ब्रह्म तत्व है, ब्रह्म साक्षात्कार बग़ैर सरेगी नहीं, अनात्म दृष्टि दुःखरूप है। खुशी खुशी (उत्साहपूर्वक) किस में स्नेह मोह आदि रखते हो ? भैय्या ! काले नाग को गोद में दूध पिला २ कर मत पालो। सत्य स्वरूप एक परमात्मा को छोड़ और कोई विचार मन में रखते हो ? बन्दूक की गोली कलेजे में क्यों नहीं मार लेते, मार्ग में कहां तक डेरे डालोगे ? रास्ते में कहां तक महिमानियां खाओगे ? यहां दुनिया सराय में मां तो नहीं बैठी हुई ? आराम अगर भालते हो तो चलो राम के धाम में।

उपासना की आवश्यकता ।

यस्त्व विज्ञानवान्भवत्य युक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाण्य वश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः॥[कठ० उप०]

विज्ञान रहित, अयुक्त मन वाले की इन्द्रियां बेबस बिगड़े घोड़ों की तरह मंजल तक पहुंचना तो कहां रथ को और रथ में बैठे को, कुओं और गढ़ों में जा गिराते हैं, जहां रोना और दांत पीसना होता है। यदि इसी जन्म के घोर रौरव से बचना इष्ट हो, तो घोड़ों को सिधाना और सीधी राह पर चलाना रूपी यमनियम की आवश्यकता है। पर लाख यत्न

कर देखो जब तक तुम्हारा साईस (सारथी) धुंदली आंखों वाला काना सा है तब तक कीचड़ में डूबोगे, और रेत में धँसोगे, गढ़ों में गिरोगे, चोटें खाओगे, चिल्लाओगे। बाबा! सांसारिक बुद्धि को सारथी बनाना दुःख ही दुःख पाना है। अब बात सुनो, फतह (जय) इसी में है कि अपनी मन रूपी बागडोरी देदो, देदो उस कृष्ण के हाथ, बस फिर कोई खतरह नहीं, वह इस संसार रूपी कुरुक्षेत्र से जय के साथ लेही निकलेगा। रथ हांकने में तो वह प्रसिद्ध उस्ताद है। आवश्यकता है हरि को, रथ, घोड़े और बागें सौंप कर पास बिठाने अर्थात् उपासना की।

"सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहंत्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि माशुचः" ॥
"संगात्संजायतेकामः कामात्क्रोधोऽभिजायते" [गीता]

पदार्थकामना और विषयवासना से सर्व साधारण पुरुषों की वह गति होती है, जैसे जल में पड़े हुए तुम्बे की, आंधी और अब्धि के अधीन होगी। ऐसे अनर्थ का हेतु विषयसंग तो हर वक्त ही रहे, और इस रोग की निवारक औषधि (उपासना,अनुसंधान) कभी न की जाय तो ऐसी आत्महत्या के बदले अवश्य,

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ॥ [ईश० उप०]

में दारुण दुःख सहने ही पड़ेंगे। यदि कांटों पर पड़ जाने से परमेश्वर याद आता हो, तो प्यारे जब देखो कि संसार के कामधंधों में उलझ कर राम भूलने लगा है, झट पट अपने तईं नुकीले कांटों पर गिरा दो, और कुछ नहीं तो पीड़ के बहाने याद आ ही जायगा, परदे में रोना, दिल को पीटना, छिप कर डाढ़ें मारना भी अवश्य फ़ायदा करेगा।

उपासना दो प्रकार की

प्रसिद्ध हैः-प्रतीक और अहंग्रह।

प्रतीक उपासना में बाहर के पदार्थों में पदार्थदृष्टि हटा कर ब्रह्म को देखना होता है। अहंग्रह उपासना में अपने अन्दर जो अहंता ममता कल्प रक्खी है उससे पल्ला छुड़ा कर ब्रह्मही ब्रह्म देखना होता है। यदि बाहर के प्रतीक को सत्य जान कर ईश्वरकल्पना उसमें की जाय, तो वह ईश्वर उपासना नहीं तिमिरपूजा (बुतपरस्ती) है। इसी पर व्यास जी के ब्रह्ममीमांसा दर्शन के अध्याय ४ पाद १ सूत्र ५ में यूं आज्ञा की है।

ब्रह्म दृष्टिरुत्कर्षात् ॥

अर्थात् प्रतीक में ब्रह्मदृष्टि हो, ब्रह्म में प्रतीक भावना मत करो। और अहंग्रह उपासना के सम्बन्ध में यूं लिखा है।

आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ॥

ब्रह्ममीमांसा ४-१.३.

अर्थात् ब्रह्म को अपना आत्मा (अपना आप) वारम्बार चिन्तन करो। वेद का यही मत है और यही उपदेश। इन दोनों प्रकार की उपासना में अभिप्राय और लक्ष एकही है, वह क्या ?

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत ॥

[छां० उप०]

ठंडी छाती से अन्दर बाहर ब्रह्मही ब्रह्म देखो।

अथ खलु क्रतुमयः पुरुषः ॥ [छां० उप०]

जैसा भी पुरुष का विचार और चिन्तन रहता है वैसा ही वह अवश्य हो जाता है, तो ब्रह्मचिन्तन ही क्यों न दृढ़ किया जाय, अर्थात् अपने आप को ब्रह्मरूप ही क्यों न

देखते रहें। इसी पर श्रुति का वचन है, "ब्रह्मविद् भवति" ॥ [मुण्ड० उप०]

अहंग्रह और प्रतीक उपासना दोनों में नामरूप संसार (बुत) को ढाना इष्ट होता है बनाना नहीं। जल ब्रह्म है, स्थल ब्रह्म है, पवन ब्रह्म है, आकाश ब्रह्म है, गंगा ब्रह्म है इत्यादि प्रतीक उपासना के रूपदर्शक वाक्यों में जल, स्थल, पवन, आदि के साथ ब्रह्म को कहीं जोड़ना (संकलन करना) नहीं है। जैसे यह सर्प काला है, इसमें सर्प भी रहे हैं और काला भी। किन्तु यहां तो बाध समानाधिकरण का है, जैसे किसी भ्रांति वाले को कहें यह सर्प रस्सी है, यहां रस्सी काले रंग की तरह सर्प के साथ समान सत्ता वाली नहीं है, किन्तु रस्सीही है सर्प है नहीं। इसी तरह सच्ची उपासना वह है कि धारारूप जल दृष्टि में न रहे, ब्रह्म चित्त में समा जाय, स्पंदरूप पवन दृष्टि से गिर जाय, ब्रह्मसत्ता मात्र ही भान हो, प्रतिमा में प्रतिमापन उड़ जाय, चैतन्य स्वरूप भगवान् की झांकी हो। जैसे किसी प्रेम के मतवाले घायल ने प्यारे का प्रेमपत्र पढ़ा, उसकी दृष्टि तो प्यारे के स्वरूप से भर गई, अब पत्र किसको दीख पड़े। (गोपियां उद्धव को कहती हैं, यह पाती अब कहां रक्खें, छाती से लगाती हैं तो जल जायगी, आंखों पर धरती हैं तो गल जाँयगी) उपासना में मग्न के लिये इन्द्रियज्ञान तो एक छेड़ जैसी रह जायगी। प्यारे ने चुटकी भरी, चुटकी वस्तुतः कोई चीज़ नहीं है, प्याराही वस्तु रूप है। इसी तरह सब इन्द्रियों का ज्ञान एकही एक प्यारे की छेड़छाड़ रूप प्रतीत होगाः—

आई पवन जब ठुम ठुमक, लाई बुलावा श्याम का ॥

भाई, उपासना तो इसी का नाम है जिसमें ज़बान ने तो

क्यों हिलना है, शरीर की हड्डी और नाड़ी तक के परमाणु२ हिल जाँय। यह नहीं तो, आंख मूंदो, नाक मूंदो, कान मूंदो मुख मूंदो, गाओ चाहे चिल्लाओ, तुम्हारी उपासना बस एक चित्ररूप है, जिस में जान नहीं। बड़ा सुन्दर चित्र सही, रवि वर्म्मा का मान लो, पर खाली तसवीर से क्या है ?

पदार्थों में इस ब्रह्मदृष्टि को दृढ़ करना और विषय भावना का मिटाना रूपी उपासना, कुछ वैसा अध्यारोप (कल्पना) शक्ति को बढ़ाना और बरतना न जान लेना, जैसा शतरंज में काठ के टुकड़ो को बादशाह, वज़ीर, हाथी, घोड़ा, प्यादा मान लेते हैं। जल ब्रह्म है, आकाश ब्रह्म है प्राण ब्रह्म है, अग्नि ब्रह्म है, मन ब्रह्म है इत्यादि उपासना के रूप तो अवस्तु को मिटाकर वस्तुभावना जमाते हैं। यदि यह खाली मान लेना और कल्पनामात्र भी हो तो वैसी कल्पना है, जैसे बालक गुरूजी के कहने से गुणा करने और भाग देने की रीति को मान लेता है। भाग देने और गुणा करने की यह विधि क्यों ऐसी है और क्यों नहीं, और इस रीति द्वारा उत्तर के ठीक आजाने में कारण क्या है, यह बातें तो पीछे आँयगी जब बीजगणित (अलजबरा) पढ़ेगा। परन्तु उस गुरु (रीति) पर विश्वास करने से उदाहरण सब अभी ठीक निकलने लग पड़ेंगे। पर खबरदार! गुरूजी के बताए हुए गुरू (रीति) को ही और का और समझकर मत याद करो।

प्रतिमा क्या है ? जिससे मान निकाला जाय, मापा जाय, तोला जाय, (unit of measurement)। जब तोलने का बट्टा छोटा हो तो तोल का मान बड़ा होता है। जैसे तोलने का बट्टा एक पाव होने पर यदि किसी चीज़ का मान चार हो तो बट्टा एक छटांक होने पर मान सोलह होगा।

अब हिंदूधर्म के यहां प्रतीक और प्रतिमा क्या थे ? ईश्वर को तोलने का बट्टा। हिंदूधर्म में अति उच्च सूर्य, चन्द्रमा रूपी प्रतीक भी हैं। इससे उतर कर गुरू ब्राह्मण रूप हैं, गौ गरुड़ रूप भी, अश्वत्थ वृन्दा रूप भी, कैलास गंगा रूप भी और ठिगने से गोलमोल काले पत्थर को भी प्रतिमा (प्रतीक) रूप स्थापित कर दिया है। यह छोटे से छोटा प्रतीक क्या परमेश्वर को तुच्छ बनाने के लिये था ? नहीं जी, प्रतीक का छोटा करना इस लिये था, कि ईश्वरभाव और ब्रह्मदृष्टि का समुद्र बह निकले, जब उस नन्हे से पत्थर को भी ब्रह्म देखा, तो बाक़ी अखिल पदार्थ और समस्त जगत् तो अवश्यमेव ब्रह्मरूप भान हुआ चाहिये। परन्तु जिसने मूर्त्तिपूजा इस समझ से की, कि यह ज़रा सा पत्थर ही ब्रह्म है, वह हो गया "पत्थर का कीड़ा"।

परा पूजा।

पदार्थ के आकार, नाम रूप आदि से उठ कर उसके आनन्द और सत्ता अंश में चित्त जमाना, पद या शब्द से उठ कर, उसके अर्थ में जुड़ने की तरह चर्मचक्षु से दृश्यमान सूरत को भूल कर ब्रह्म में मग्न होना रूपी जो उपासना है, क्या यह किसी न किसी नियत प्रतीक द्वारा ही करना चाहिये ? प्रतीक तो बच्चे की पाटि की तरह है, उस पर जब लिखने का हाथ पक गया तो चाहे जहां लिख सके। ब्रह्मदर्शन की रीति आ गई, तो जहां दृष्टि पड़ी ब्रह्मानन्द लूटने लगे। प्रतीक उपासना तब सफल होती है जब वह हमें सर्वत्र ब्रह्म देखने के योग्य बना दे। सारा संसार मन्दिर बन जाय; हर पदार्थ राम की झांकी करादे, और हर क्रिया पूजा हो जाय।

जेता चलूं तेती प्रदखना, जो कुछ करूं सो पूजा।

गृह उद्यान एक सम जान्यो, भाव मटाइयो दूजा ॥

सच्ची और जीती उपासना जिनके अन्दर यौवन को प्राप्त होती है, उनकी अवस्था श्रुति (तैत्तिरीय शाखा) यूं प्रतिपादन करती है।

यावद्घ्रियते सा दीक्षा, यदश्नाति तद्धविः यत्पिबति तदस्य सोमपानं, यद्रमते तदुपसदः यत्संचरत्युपाविशत्युत्तिष्ठते च प्रवर्ग्यो, यन्मुखं तदाहवनीयो, याव्याहृतिराहुतिर्यदस्य विज्ञानं तज्जुहोति [नारा० उप०]

मुक्ति, शांति और सुख चाहो, तो भेदभाव का मिटाना और ब्रह्मदृष्टि का जमाना ही एक मात्र साधन है।

यह दृष्टि क्यों आवश्यक है? क्योंकि वस्तुतः यही वार्ता है,

"ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या।"

अगर गर्मी, भाप, बिजली आदि के क़ानूनों के अनुसार रेल, तार, बैलून आदि यन्त्र बनाओगे तो चल निकलेंगे, और क़ानून को भुलाकर लाख यत्न करो, अँधेरी कोठरी से कहां निकल सकते हो? अब देखो, यह अध्यात्मक कानून (अभेद भावना) तो तत्वविज्ञान (साइंस) के सब नियमों का नियम है, जो वेद में दिया है। इसे वर्त्ताव में लाते हुए क्यों कर सिद्धि हो सकती है? अमरीका के महात्मा अमरसन (Emerson) ने अपने निज के प्रतिदिन की अनुभूत परीक्षा (रूहानी तजरुबे) को पक्षपात रहित देख देख कर क्या सच कह दिया है "किसी वस्तु को दिल से चाहते रहना, अथवा दांत निकाल कर अधीन भिखारी की तरह दूसरे की प्रीति का भूखा रहना, यह पवित्र प्रेम नहीं है। यह तो अधम नीच मोह है। केवल जब तुम मुझे छोड़ दो, और खोदो और उस उच्च भाव में उड़ जाओ जहां न मैं रहूं न तुम, मुझे खिंच

कर तुम्हारे पास आना पड़ता है, और तुम मुझे अपने चरणों में पाओगे। जब तुम अपनी आंखें किसी पर लगादो, और प्रीति की इच्छा करो, तो उसका उत्तर तिरस्कार और अनादर विना कभी और कुछ नहीं मिला, न मिलेगा, याद रक्खो"।

भाई ! इसमें पन्थाई झगड़ों की क्या आवश्यकता है ? हाथ कङ्गन को आरसी क्या है ? अगर क्लेशरूपी मौत मंजूर नहीं तो शांतिपूर्वक अपने चित्त की अवस्था और उसके दुःखसुखरूपी फल पर एकांत में विचार करना आरम्भ करदो, सच झूंठ आप निथर ही आयगा। अगर तुममें विचार-शक्ति रोगग्रस्त नहीं है, तो खुदबखुद यह फ़ैसला करोगे कि चित्त में त्याग की अवस्था और ब्रह्मानन्द हुए ऐश्वर्य, सौभाग्य इस तरह हमारे पास दौड़ते आते हैं, जैसे भूखे बालक मां के पासः—

यथेह क्षुधिता बाला मातारं पर्युपासते ॥ [सामवेद]

जब हमारे अन्दर सच्चा गुण और शांति रूपी विष्णु होगा, तो लक्ष्मी अपने पति की सेवा हज़ारों में, हमारे दर्वाज़े पर अपने आप पड़ी रहेगी। कई मनुष्य शिकायत करते हैं कि भक्ति और धर्म करते करते भी दुःखदरिद्र उन्हें सताते हैं और अधर्मी लोग उन्नति करते जाते हैं। यह दुःखिया भूलेभाले कार्य-कारण के निर्णय करने में अन्वयव्यतिरेक को नहीं वर्त रहे। इन को यह मालूम ही नहीं कि धर्म क्या है और भक्ति क्या। स्वार्थ और ईर्षा (देहाभिमान) को तो उन्होंने छोड़ा ही नहीं जिसका छोड़ना ही धर्म को आचरण में लाना था, अब उनका यह गिला कि धर्म को वर्तते वर्तते दुःख में डूबे हैं, क्योंकर युक्त वा सत्य हो सकता है ? अगर धर्म को वर्ता होता, तो यह शिकायत जिसमें स्वार्थ और ईर्षा दोनों मौजूद हैं कभी न करते। वे दान और भजन भी धर्म में शामिल नहीं हो

सकते, जिनसे अहंकार और अभिमान बढ़ जांय । जहां पापी फलता फूलता पाते हो वहां सुखभोग का कारण ढूंढ़ो तो उस पुरुष का चित्त आत्माकार और एकांत रहा था, जो तुम ने देखा नहीं और उसके पापकर्म का परिणाम खोजो तो महा क्लेश होगा जो अभी तुमने देखा नहीं ।

तुम पर किसी ने व्यर्थ अत्याचार किया है, तो अहंकार-रहित हो कर पक्षपात छोड़ कर तुम अपना अगला पिछला हिसाब विचारो । तुमको चाबुक केवल इसलिये लगा कि तुमने कहीं अयुक्त रजोगुण में दिल देदिया था, आत्मसन्मुख नहीं रहे थे, राम के कानून को तोड़ बैठे थे । मन के ब्रह्माकार न रहने से यह सज़ा मिली, अब उस अनर्थकारी वैरी से जो बदला लेने और लड़ने लगे हो, ज़रा होश में आओ कि अपनी पहली भूल को और भी चौगुणा पांचगुणा कर के बढ़ा रहे हो, और प्रति क्रिया से उस अपराधीरूप जगत् के पदार्थ को सत्य बना रहे हो और ब्रह्म को मिथ्या ।

बच्चा ! याद रक्खो, ऐंठो तो सही, उरद के आटे की तरह मुक्के न खाओ और बार बार पटके न जाओगे तो कहना । प्रायः लोग औरों के क़सूर पर ज़ोर देते हैं और अपने तईं बेक़सूर ठहराते हैं । हां प्रत्यगात्मारूप जो तुम हो बिल्कुल निष्कलंक ही हो । पर अपने तईं शुद्ध आत्मदेव ठाने भी रहो, चुपड़ी और दो दो क्योंकर बने ? अपने आप की शरीर मन बुद्धि से तादात्मता करनी, और बन कर दिखाना निष्पाप, यही तो घोर पाप है बाक़ी सब पापों की जड़ । अब देखो जो रुद्ररूप क़ानून तुमको सत्य स्वरूप आत्मा से विमुख होने पर रुलाए विना कभी नहीं छोड़ता, वह ईश्वर उस अत्याचारी तुम्हारे वैरी को बारी क्या मर गया है ? कोई उस त्र्यम्बक की आंखों में नोन नहीं डाल सकता, पस तुम कौन हो ईश्वर

के क़ानून को अपने हाथ में लेनेवाले ? तुम को पराई क्या पड़ी अपनी निबेड़ तू। बदला लेने का ख़याल विश्वासशून्य नास्तिकपन है।

ओ प्यारे, मेरे अपना आप,द्वेषातुर मूर्ख ! जितना औरों को चने चबाए चाहता है, उतना अपने तईं ब्रह्मध्यान की खांड खीर खिला । वैरी का वैरीपन एकदम उड़ न जाय तो सही। ब्रह्म है और ब्रह्म को भूल जाना ही दुःख रूप झमेला है। जो तुम्हारे अन्दर है यही सब के अन्दर है।

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह ॥ (कठ० उप०)

जब तुम अन्दरवाले से बिगड़ते हो तो जगत् तुमसे बिगड़ता है, जब तुम अन्दर का अन्तर्यामी रूप बन बैठे तो जगत् रूपी पुतलीघर में फ़साद तो कैसा, किस काठ के टुकड़े से चूं भी हो सकती है ?

"यो मनसि तिष्ठन्मनसोऽन्तरो,यं मनो न वेद, यस्य मनः शरीर यो मनोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः" ।

[बृह० उप०]

जब तुम दिल के मकर छोड़ कर सीधे हो जाओ तो तुम्हारे भूत, भविष्य, वर्त्तमान, तीनों काल उसी दम सीधे हो जाँयगे।

प्यारे ! जैसे कोई मनुष्य मोटा ताज़ा बग्गी में जा रहा हो तो तुम जानते हो कि उसकी मोटाई फ़िटन में के गद्दे तकियों से नहीं आई, उसकी पुष्टाई का कारण हिन्हिनाती हुई खच्चरें नहीं हैं, बल्कि अन्न को पचाने से शरीर बढ़ा फ़ैला है। इसी तरह जहां कहीं ऐश्वर्य्य और सौभाग्य देखते हो उसका कारण किसीकी चालाकी, फंदफ़रेब कभी नहीं हो सकते। क़समें दिला कर पूछ देखो। जिस हद्द तक चालाकी फन्दफ़रेब वर्तें गये, उस हद्द तक ज़रूर हानि (नाकामयाबी)

हुई होगी। आनन्द, सुख का कारण और कुछ नहीं था, सिवाय ज्ञाततः अथवा अज्ञाततः चित्त में ब्रह्मभाव समाने के। यह अन्न खाते तुमने उसको नहीं देखा तो क्या। और वह खुद भी इस बात को भूल गया है तो क्या (बच्चे कई दफ़ा रात को दूध पीते हैं और दिन को भूल जाते हैं) पर भाई, तेल ने तो तिलों ही से आना है। सुख, आनन्द, इक़बाल कभी नहीं, कभी नहीं आ सकता बग़ैर आत्माकारवृत्ति रहने के।

यदाचर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥ (श्वेता० उप०)

जब लोग चर्म की तरह आकाश को लपेट सकेंगे तब देव को जाने विना दुःख का अन्त हो सकेगा।

दृष्टान्त, प्रमाण, दलील अनुमान से तो यह सिद्ध है ही, पर मैं इस समय युक्ति, उक्ति आदि को अपील नहीं करता, मैं तो बहुत नेड़े (समीप) का पता देता हूं। यह तुम हो और यह तुम्हारी दुनिया है। अब देख लो, खूब आंखें खोलो। जब तुम्हारे चित्त में दुनिया के सम्बन्धों की तुलना ईश्वर-भाव से अधिक हो जाती है, जब 'मैं, मेरा' भाव चित्त में त्याग और शान्ति को नीचे दबाता है, तो जिस दर्जे तक 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' रूपी सत्य की आचरण से उपेक्षा करते हो, उसी दर्जे तक दुःख, खेद, क्लेश तुम्हें मिलता है और अन्ध कूप में गिरते हो। वनस्पति (Botany) और रसायणविद्या (Chemistry) की तरह निज के तजरुबा और मुशाहिदा [परीक्षा और विचार (observation and experiment)] से यह सिद्धान्त सिद्ध है।

जगत् में रोग एक ही है और इलाज (औषधि) भी एक ही। चित्त से अथवा क्रिया से ब्रह्म को मिथ्या और जगत् को सत्य जानना, एक यही विपरीत वृत्ति कभी किसी दुःख

में प्रकट होती है, कभी किसी में। और हर विपत्ति की औषधि, शरीर आदि को "हैं नहीं" समझ कर ब्रह्माग्नि में ज्वाला रूप हो जाना है। लोग शायद डरते हैं कि दुनिया की चीज़ों से प्रेम किया जाय तो प्रेम का जवाब भी पाते हैं, परन्तु परमेश्वर से प्रेम तो हवा को पकड़ने जैसा है, कुछ हाथ नहीं आता। यह धोके का ख़याल है, परमेश्वर के इश्क़ में अगर हमारी छाती ज़रा धड़के, तो उसकी एकदम बराबर धड़कती है और हमें जवाब मिलता है, बल्कि दुनिया के प्यारों की तरफ़ से मुहब्बत का जवाब तबही मिलता है, जब हम उनकी तरफ़ निराश होकर ईश्वरभाव ही की ओर लेते हैं।

किसी ने कहा लोग तुम्हें यह कहते हैं, कोई बोला लोग तुम्हें वह कहते हैं, कहीं हाकिम बिगड़ गया, कहीं मुकद्दमा आ पड़ा, कहीं रोग आ खड़ा हुआ। ओ भोले महेश! तू इन बातों से अपने तकले में व्यंग न पड़ने दे, भरें में मत आ, तू एक न मान, ब्रह्म बिना दृश्य कभी हुआ ही नहीं। चित्त में त्याग और ब्रह्मानन्द को भर तो देख, सब बलायें आंख खोलते खोलते सात समुद्रों पार न बह जायँ, तो मुझको समुद्र में डुबा देना।

एक बालक को देखा, दूसरे बालक को धमका रहा था, "आज पिता से तू ऐसा पीटेगा, ऐसा पीटेगा, कि सारी उमर याद पड़ा करे," दूसरे बालक ने शान्ति से उत्तर दिया "अगर वह मुझे मारेंगे तो भले ही को मारेंगे न, तेरे हाथ क्या लगेगा?" इस बालक के बराबर विश्वास तो हम लोगों में होना चाहिये, भयंकर भयानक भावि की भिनक पाकर बगुले की तरह गरदन उठा कर, घबरा कर, "क्या? क्या?" क्यों करने लगें? आनन्द से बैठ मेरे यार! वहां कोई और नहीं है, तेरा ही परम पिता, बल्कि आत्मदेव है, अगर मारेगा भी

तो भले के लिये। और अगर तुम उसकी मर्ज़ी पर चलना शुरू कर दो तो वह पागल थोड़ा है, कि यूंही पड़ा पीटे।

एकाग्रता में विघ्न।

विघ्न १; मिथ्या कारण-सत्ता में विश्वास।

अपने तईं पूरा पूरा और सारे का सारा परमात्मा के हवाले कर देने का मज़ा तब तक तो आ नहीं सकता, जब तक संसार के पदार्थों में कारणत्व-सत्ता भान होती रहेगी, अथवा जब तक ईश्वर हर बात का एक मात्र कारण प्रतीत होने लगेगा। अरबी, फ़ारसी, उर्दू में कारण को "सबब" कहते हैं, और अरबी में सबब का पहला अर्थ है "डोर-रस्सा"। रूम देश का स्वामी ज्वाल (जो उन लोगों की भाषा में 'मौलाना जलाल' नाम से प्रसिद्ध है) लिखता है, "यह कारण-कार्यभाव रूपी रस्सा जो इस जगत् कूप में सब घटों के गले में बँधा पाते हो, यह क्यों फिरता है, इस बेप्राण रज्जु ने तो क्या फिरना था, कूप के सिर पर देव चर्ख़ी घुमा रहा है, पर हमें रस्सा ही सब घटियन्त्र को चलाता भान होता है, 'कारणं कारणानां' तो देव ही है।

स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्यांछब्दांछक्नुयाद् ग्रहणाय दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः॥ स यथा शङ्खस्य ध्मायमानस्य न बाह्यांछब्दांछक्नुयाद् ग्रहणाय शङ्खस्य तु ग्रहणेन शङ्खध्मस्य वा शब्दो गृहीतः॥ स यथा वीणायै वाद्यमानायै बाह्यांछब्दांछक्नुयाद् ग्रहणायवीणायै तु ग्रहणेन वीणावादस्य वा शब्दो गृहीतः॥ [बृह०उप०]

जैसे ढोल, मृदंग, शङ्ख, वीणा, हार्मोनियम आदि के आवाज़ सब अपने आप ही पकड़े जाते हैं, जब हम इन बाजों वा यन्त्रों को क़ाबू करते हैं इसी प्रकार संसार की 'कार्य-

कारणशक्ति' एकदम हमारे अधीन हो जायगी, जब हम एक परमात्मदेव को पक्की तरह पकड़ लेंगे। किसी बड़े आदमी की सिफ़ारिश, विद्या, बल, धन, माल, मकान आदि को जो अपनी आशापूरण में कारण और हेतु ठान बैठते हो, और आत्मदृष्टि का आश्रय नहीं लेते, धोके में गिरते हो, दुःख पाओगे।

कहते हैं, कृष्ण जब गोपिकाओं का दूध, माखन आदि खाता था तो कुछ दधि आदि घर में बँधे हुए बछड़ों की थोथनी पर लगा देता था। घर वाले लोग अपने ही बछड़ों को चोर समझ कर उन ग़रीबों को बड़े मारते पीटते और अपनाही नुकसान करते। प्यारे! कारण तो हरबात का एक मात्र भगवान् है, बाक़ी कारण तो केवल चिट्टी थोथनीवाले बेचारे बछड़े हैं। कंगले दीवालियों के नाम हज़ारीलाल, लखपतराय, करोड़ीमल आदि रक्खे हुए हैं। क्यों चक्कर में मारे मारे फिरते हो, ऊपर के सांसारिक मिथ्या लिंग हेतु, आदि पर मत भूलो, यह असली कारण नहीं। जब तक लड़की विवाही नहीं जाती तो गुड़ियों से जी बहलाती है। कारणों का कारण रूप परब्रह्म जब मिल सकता है, तो मिथ्या कारणों से जीबहलावा क्यों करना?

भानमती का तमाशा हुआ, पुतलियां नाचती हैं। "एक ने दूसरी को बुलाया, इस लिये वह आ गई। एक ने दूसरी को पीटा, इसलिये वह मर गई।" इस प्रकार के कार्य्यकारण भाव पर प्रायः मनुष्य भूल रहे हैं, असली कारण तो एक पुतलीगर (अन्तर्यामी सूत्रधारी) है। गीत या बांसुरी सुनने लगे, एक स्वर के बाद दूसरा स्वर आया, एक शब्द दूसरे शब्द को अवश्य लाया, इन शब्दों और स्वरों का आपस में आवश्यक लगाओ, इस प्रकार के कार्यकारण भाव पर लोग भूल बैठते हैं, असली कारण तो गानेवाला (बंसीधर)

है। एक ऊंचा मकान था, "शिखर की मंज़िल का आश्रय क्या है, उससे निचली मंज़िल, और उसका आश्रय उससे नीचे की मंज़िल, फ़र्श की मंज़िल बाक़ी सब का आश्रय और कारण"। इस प्रकार के कार्यकारण सम्बन्ध पर लोग भूल बैठते हैं। असली सजीवित कारण तो इन सब मंज़िलों का मकान बनाने वाला (कर्त्ता हर्त्ता) है।

संसार के कारणों को आशा की आंख से तकना तो खारी समुद्र में डूबते को तिनके का सहारा है। जब गोल-चंद्र (कृष्ण) को वहां सुदर्शन तो जुड़ा नहीं, रथ का चक्र उठा करही अपनी प्रतिज्ञा तोड़ली तो (भीष्म) बुड्ढे कोभी यह लड़कपन देख बड़ी हँसी आई। अब फिर वही काम न होने पाय। यह चर्मचक्षु से नज़र आने वाले कारण, आश्रय, सहारे, इनको तकना तो अनुचित रथ के चक्र को उठाना है। इनसे क्या बनेगा? तुम अपने असली स्वरूप को तो याद करो, आंखें खोलो, किस चक्कर में पड़े हो, किस झगड़े में अड़े हो, किस कलकल में फँसे हो। तुम तो वही हो, वही। ज़रा देखो अपने असली सुदर्शन की तर्फ़, तुम्हारे भय से सूर्य कांपता है, तुम्हारे डर से पवन चलती है, तुम्हारे खौफ़ से समुद्र उछलता है, तुम्हारे चाबुक से मौत मारी२ फिरती है।

भीषास्माद्वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः।
भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च। मृत्युर्धावति पञ्चम॥ (तैत्ति०उप०)

यह डर से मेहर*आ चमका, अहाहाहा अहाहाहा।
उधर मह † बीम ‡ से लपका, अहाहाहा अहाहाहा॥
हवा अटखेलियां करती है मेरे इक इशारे से।
है कोड़ा मौत पर मेरा, अहाहाहा अहाहाहा॥

अरे प्यारे! विषयों के वश रहना तो पराधीनता में मरना

---

* सूर्य। † चन्द्र। ‡ डर।

है, इस बेबसी का जीना तो शरीर को क़बर बना कर मुर्दे की तरह सड़ना है। "निर्ममो निरहंकारः" हुए आत्मज्योति शरीर में से इस प्रकार फैलती है, जैसे फ़ानूस में से प्रकाश। जिस कार्य में ऊपर के लक्षण देख कर अनुमान के आश्रय आशा की पाश में दिल फँसा दिया जाय, वह कार्य कभी नहीं होगा। जिनको अनुमान और लक्षण मान रक्खा है, मनुष्य को मिथ्या संसार में इस प्रकार फँसाते हैं जैसे मछली को मांस की बोटी जाल में (कुंडी में)। जब ऊपरी कारणों को दिल में न जमा कर, स्वार्थांश को त्याग कर, कोई भी कार्य इस भावना से किया जाय, "हे राम! यह तुम्हाराही काम है, तुम्हारा है इस लिये मैं अपना समझता हूं, जो तुम्हारी मर्ज़ी सो मेरी मर्ज़ी, कार्य के होने न होने में मुझे हानि नहीं लाभ नहीं, मेरा आनन्द तो केवल तुम्हारे साथ अभेद रहने में है, काम को यदि सँवार दो तो वाह वाह! बिगाड़ दो तो वाह वाह!" जब सच्चे दिल से यह भावना और यह दृष्टि हो, तो क्या दुनिया और दुनिया के क़ानूनों की शामत आई है कि चाकरों की तरह तत्काल सब काम न करते जाँय। भला राम के काम में भी अटकाव हो सकता है? भगवद्गीता के मध्य में जो श्लोक कि गीता को आधा इधर और आधा उधर गुरुत्वकेन्द्र (centre of gravity) की तरह तोल देता है, यह है:—

अनन्याश्चिन्तयंतो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ अ० ९। २२

भगवान् का यह तमस्सुक (इक़रारनामा) तबभी झूंठ नहीं होगा जब अग्नि की ज्वाला नीचे को बहने लगे, और सूर्य पश्चिम से उदय होना आरंभ करदे और पूर्व में अस्त।

यार! मनुष्य जन्म पाकर भी हैरान और शोकातुर रहना

बड़ी शर्म (लज्जा) की बात है। शोक चिन्ता में वे डूबे जिनके मा बाप मर जाते हैं, तुम्हारा राम तो सदा जीता है, क्या ग़म ? ज़रा तमाशा तो देखो, छोड़ दो शरीर की चिन्ता को, मत रक्खो किसी की आश, परे फेंको वासना कामना, एक आत्मदृष्टि को दृढ़ रक्खो, तुम्हारी ख़ातिर सब के सब देवता लोहे के चने भी चाब लेंगे ॥

रुचं ब्राह्मं जनयन्तो देवा अग्रे तदब्रुवन् ।
यस्त्वेवं ब्राह्मणो विद्यात्तस्य देवा असन्वशे ॥ (शु०यजु०अ० ३१)
सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति ॥ (बृह० उप०)
सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति ॥ (तैत्ति० उप०)
न पश्योमृत्युं पश्यति, न रोगं, नोत दुःखतां,
सर्वं ँ ह पश्यः पश्यति, सर्वमाप्नोति सर्वशः ॥ (छां० उप०)

कोई सन्दिग्ध शब्दों में तो वेद ने कहा ही नहीं "जब सर्वात्म दृष्टि हुई तब रोग, दुःख, और मौत पास नहीं फड़क सकते, आत्मा को जाने क्या नहीं जाना जाता, और हर प्रकार से हर पदार्थ मिल जाता है।

विघ्न २; द्वेष दृष्टि।

आनन्दधाम को चित्त चला तो वैरी विरोधी का ख़याल डाकू रूप होकर चित्त को ले उड़ा । यूरप में एक दिन एक तत्वविज्ञान का लायक़ डाक्टर (आचार्य) अपने पास आने वालों की कुछ निन्दा सी करने लगा। उससे पूछा कि "आप शिकायत करते हैं ?" तो बोला, "नहीं, मैं उनके चित्त की अध्यात्म दशा पर विचार करता हूं" (I study the psychology of their minds) दुनिया में हम लोग बराबर यही तो करते हैं । द्वेषदृष्टि (और दुष्ट भाव) को कोई श्रेष्ठ सा नाम देकर आंखों पर परदा डाल लिया, और इस सर्पनी को बराबर छाती से लगाये फिरे। फिर जब कहा गया "प्यारे डाक्टर ! सम्बन्धवालों की

अध्यात्म दशा अकेली विचार के योग्य नहीं होती। अपनी आभ्यन्तर दशा भी उसके साथ साथ विचारणीय है। साथी जो विगड़े चित्तवाले मिले हैं, तो क्या आजकल आप की आभ्यन्तर अवस्था बिलकुल दूषणरहित थी?" डाक्टर आदमी था सच्चा, कुछ देर चुप रहकर विचार करके बोला, "स्वामिन्! कहते तो बिल्कुल सच हो" वास्तव में जैसा मेरा चित्त होता है, वैसे चित्त और स्वभाव मेरे पास आकर्षित हो जाते हैं, औरों की अवस्था पर भला बुरा चिन्तवन करते रहने से कभी झगड़ा निपटता भी नहीं, उन लोगों को क्या पकड़ूं, सब मनों का मन मैं हूं, सब चित्तों का चित्त मैं हूं। अन्दर से ऐसी एकता है कि अपने तईं शुद्ध करते ही सब शुद्ध ही शुद्ध पाता हूं। समीप का इलाज (अपने तईं ब्रह्ममय कर देना) तो हम करते नहीं, दूर के बंदोबस्त (औरों के सुधार) को दौड़ते हैं। न यह होता है न वह। ईश्वरदर्शन तो तब मिलेगा जब सांसारिक दृष्टि से प्रतीयमान वैरी विरोधी निन्दक लोगों को क्षमा करते हम इतनी देर भी न लगाँय जितना श्री गंगा जी तिनकों को बहा लेजाने में लगाती है, या जितनी आलोक किरणें अंधकार के उड़ाने में लगाती है।

जब तक सर्व पदार्थों में *सम धी नहीं होती तब तक समाधि कैसी? विषम दृष्टि रहते, योगसमाधि और ध्यान तो कहां धारणा भी होनी असम्भव है। सम दृष्टि तब होगी जब लोगों में भलाई बुराई की भावना उठ जाय। और यह क्यों कर उठे? जब लोगों में भेदभावना उठ जाय, और पुरुषों को ब्रह्म से भिन्न मान कर जो अच्छा बुरा कल्पना कर रक्खा है, न करें। समुद्र में जैसे तरंगें होती हैं कोई छोटी कोई बड़ी, कोई ऊंची कोई नीची, कोई तिर्छी कोई

*समान बुद्धि अर्थात् सम दृष्टि।

सूखी, उनकी सत्ता समुद्र से अलग नहीं मानी जाती, उनका जीवन भिन्न नहीं जाना जाता। इसी तरह अच्छे बुरे आदमी, और अमीर ग़रीब लोग तो तरंगें हैं, जिनमें एकही ब्रह्म समुद्र ढाढ़ें मार रहा है, अहाहाहा! अच्छे बुरे पुरुषों में जब हमारी जीवदृष्टि उठ जाय और उनको ब्रह्मरूपी समुद्र की लहरें जान लें, तो रागद्वेष की अग्नि बुझ जायगी और छाती में ठंडक पड़ जायगी। जो लहर ऊंची चढ़ गई है, वह अवश्य नीचे गिरनी है, इसी तरह जिस पुरुष में खोटापन समा गया है, उसे अवश्य दुःख पानाही है। परन्तु लहरों के ऊंच और नीच भाव को प्राप्त होते रहने पर भी समुद्र की पृष्ठ को क्षितिजधरातल (horizontal)ही माना है। इसी तरह बीचरूप लोगों के कर्म और कर्मफल को प्राप्त होते रहने पर भी ब्रह्मरूपी समुद्र की समता में फ़र्क़ नहीं पड़ता। लहरों का तमाशा भी क्या सुखदायी और आनन्दवर्द्धक होता है, पर हां जो पुरुष उनसे भीग जाय या डूबने लगे, उसके लिये तो उपद्रवरूप है। समुद्रदृष्टि होने से सम धी और समाधि होगी।

विघ्न ३; स्वार्थ, कपट।

उपासना की जान समर्पण और आत्मदान है, यदि यह नहीं तो उपासना निष्फल और प्राणरहित है। भाई! सच पूछो तो हर कोई लेने का यार है। जब तक तुम अपनी खुदी और अहंकार को परमेश्वर के हवाले न करोगे, तो तुम्हारे पास बैठना तो कैसा, तुमसे कोसों भागता फिरेगा, जैसे कृष्ण भगवान् कालयवन से। उस आंखों वाले प्रज्वलित हृदय सूरदास ने बिलबिलाते बच्चे की तरह क्या ज़ोर से सच कहा है।

किन तेरो गोविन्द नाम धर्यो॥

लेन देन के तुम हितकारी मो ते कछु न सर्यो॥

विप्र सुदामा कियो अजाची तंदुल भेंट धर्यो॥

द्रुपदसुता की तुम पति राखी अम्बर दान कर्यो ॥
गज के फंद छुड़ाये आकर पुष्प जो हाथ पड्यो ॥
सूर की बिरियां निठुर व्है बैठे कानन मूंद धर्यो ॥

यदि चाहो, परीक्षा तो करें भजन (उपासना) से फल मिलता है कि नहीं, तो प्यारे ! याद रहे 'परीक्षा का भजन' असंगत है और असंभव है, क्योंकि निष्कपट भजन तो होगा वह, जिसमें फल और फल की इच्छावाले अपने आप को इस तरह परमेश्वर के भेंट कर दें जैसे अग्नि में आहुति ।

यह बिनती रघुबीर गुसांई
और आश विश्वास भरोसो हरो जीव जड़ताई ।
चाहौं न सुगति सुमति सम्पति कछु ऋद्धिसिद्धि विपुल बड़ाई।
हेतु रहित अनुराग राम पद बढ़े अनुदिन अधिकाई।

यदि कोई कहे, आहुति हो जाने में क्या स्वाद रहा ? तो ऐसा पूछनेवाले को स्वाद (आनन्द) का स्वरूपही विदित नहीं। खुद (अहंभाव) के लीन हो जाने का ही नाम है, स्वाद, आनन्द। बच्चे ने जब अपना नन्हा सा तनु, और भोला भाला मन, माता की गोद में डाल दिया, तो सारे जहान में उसके लिये कौन सा आराम शेष रहा और कौन सी चिन्ता बाक़ी रही। आंधी हो, वर्षा हो, भूकम्प हो, कुछ हो, उसका बाल बांका नहीं होगा, कैसा निर्भय है, क्या मीठी नींद सोता है और सलोनी जाग्रत उठता है।

विघ्न ४ ; प्रकृति नियम भंग।

जब तक तुम्हारी शरीर की क्रिया उपासना रूप न हो, तुम्हारी ऊपर से उपासना करना व्यर्थ दिखलावा है। निष्फल मन परचावा है, क्रियारूप उपासना का यह अर्थ है कि खाने, पीने, सोने, व्यायाम आदि में जो प्रकृति के नियम हैं उनको रञ्चक मात्र भी न तोड़ा जाय। विषयविकार, स्वादों

में पड़ना आचरण से ईश्वर की आज्ञा भङ्ग करना है। जिसका दण्ड रोग,व्यथादि अवश्य मिलना है। और जब पीड़ा रूपी कारागार में बेंत पड़ रहे हों, उपासना कहां हो सकती है। जिस पुरुष का स्वभाव वैसी ही क्रिया आदि की तरफ़ ले जाय जैसा ईश्वरीय नियम चाहते हैं, जिस पुरुष की इच्छा वही उठे जो मानों ईश्वर की इच्छा है, जिसकी आदत, (nature) प्रकृति की आदत हो, वह आचरण से 'शिवोऽहम्' गा रहा है, उसे दुःख कहां से लग सकता है। "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।" मुण्डक उपनिषद् में यहां बल से तात्पर्य शरीर की आरोग्यता है, और अध्यात्मबल भी है, जिसको अध्यवसाय भी कहते हैं। गीता की *"प्रज्ञा प्रतिष्ठिता" भी बल रूप है।

निद्रा क्यों आवश्यक है:—प्रति दिन काम काज करते मनुष्य प्रायः संसार और शरीर आदि को सत्य मानने लग पड़ते हैं। परन्तु कामकाज के लिये शक्ति, बल तो आनन्द-स्वरूप आत्मदेव से ही आना है, जिसकी सत्ता के आगे संसार की नामरूप सत्ता वा भेदभावना रह नहीं सकती। जगत् के धंधों में फँसे हुए को नित्य प्रति निद्रा घेर कर पृथ्वी पर फेंक कर यह सन्था पढ़ाती है कि यह जगत् है नहीं आत्मा ही आत्मा है, क्योंकि निद्रा में संसार मिथ्या हो जाता है और अज्ञाततः एक आत्मा ही आत्मा शेष रह जाता है।

पोल निकाल्यो जगत् का, सुषुपत्यवस्था मांहि।
नाम रूप संसार की, जहां गन्ध भी नांहि॥

स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयत एवमेव खलु सोम्य

* देखो गीता अ० २ श्लो० ५७, ५८, ६१, ६८,

तन्मनो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते । [छांदो० उप०]

सुषुप्ति द्वारा अज्ञाततः परम तत्व में लीन हुए इस क़दर शक्ति-बल आ जाता है तो उपासना ध्यान आदि द्वारा ज्ञाततः परम तत्व में लीन हुए शक्ति बल, आनन्द क्यों न बढ़ेंगे? जब देखो कि चिन्ता, क्रोध, काम, (तमोगुण) घेरने लगे हैं, तो चुपके उठकर जल के पास चले जाओ, आचमन करो, हाथ मुंह धोवो, या स्नान ही करलो, अवश्य शांति आ जायगी और हरिध्यान रूपी क्षीरसागर में डुबकी लगाओ, क्रोध के धूएं और भाप को ज्ञान-अग्नि में बदल दो।

उपासना में आवश्यक उदारता।

उपासना की चेटक यज्ञ, कर्म और दान से लगनी आरम्भ होती है। जब कुछ चीज़ यज्ञ में या और समय पर दी गई तो चित्त में ठंडक और शांति व्यापी, यह रस फिर लेने को जी करने लगा। बाहर के स्थूल पदार्थ कभी कभी देते दिलाते, अति कठिन और सूक्ष्म दान अर्थात् चित्त वृति का हरिचरणों में खोया जाना भी शनैः शनैः आ जाता है। उपासना, ध्यान का रंग जमने लगता है। अब यहां पर इतना विस्मयजनक है कि जिसे एक दृष्टि से हम ने खो देना (दान) कहा है, वह दूसरी ओर से देखें तो लूट लेना है। भक्ति (उपासना) चित्त की उस दर्जे की उदारता का नाम है, जिसमें अपने आप तक को उछालकर हरिनाम पर वारकर फेंक दिया जाय। उपासना का आनन्द को तँग दिलवाला कभी नहीं पा सकता, जिसका दिल बादशाह नहीं, वह क्या जाने भक्तिरस को? और बादशाह वह है जिसका अपने दिल के भीतर से एक लंगोटी (कौपीन) के साथ भी दावा न हो।

धन चुराया गया, रोता क्यों है ? क्या चोर ले गए ? रो इस समझ पर, प्यारे! और कोई नहीं है लेने ले जाने वाला, एकही एक, शुक्र की आंख, यार प्यारा अनेक बहानों से तेरा दिल लिया चाहता है। गोपिकाओं के इससे बढ़ कर और क्या सुकर्म होंगे कि कृष्ण मक्खन चुराय। धन्य हैं वह जिनका सब कुछ चुराया जाय, मन और चित्त तक भी बाक़ी न रहे।

ककुभाय स्तेनानां पतये नमः, नमो निचेरवे परिचराय ॥ तस्कराणां पतये नमः ॥ (शु० यजु० सं०)

ऋग्वेद और यजुर्वेद के पुरुष सूक्त में दिखाया है कि जब ऋषि, देवता लोगों ने विराट् पुरुष की हवि देदी तो उनके सब काम स्वयं ही सिद्ध होने लग पड़े। यज्ञ से जगत् की उत्पत्ति हुई। बृहदारण्यकोपनिषद् के आदि में समस्त संसार रूपी अश्व का मेध किस मनोहर रीति से वर्णन किया है। वाह वा ! जब तक नामरूप समस्त संसार, और विराट् रूप समग्र जगत् सम्यक् प्रकार से दान न कर दिया जाय, और यज्ञवलि में आहुति न कर दिया जाय, तब तक अमृत चखने का मुँह कहां ?

"सर्वं खल्विदं ब्रह्म" रूपी ज्ञान की अग्नि में जगत् के पदार्थ और उनकी कामना का विषट्कार हो जाय तो साम्राज्य (स्वराज्य) की प्राप्ति में देर ही क्या है ?

राजा बलि ने जल का करवा हाथ में लेकर तीनों लोक भगवान को दान कर दिये, तुम से एक असुर के बराबर भी नहीं सरती। अपना शिर रूपी चमस वा खप्पर को हथेली पर ले सारे संसार में सत्तादृष्टि करदो ब्रह्म के हवाले। बला टली, बोझ हटा, और फिर ईश्वर को भी ईश्वरत्व देने वाले तुम हो, सूर्य चंद्रमा भी तुम्हारे भिखारी हैं। लोग कहते हैं

जी ! भजन में मन नहीं ठहरता, एकाग्रता नहीं होती। एकाग्रता भला कैसे हो, कृपणता के कारण बन्दर की तरह मुट्ठी से पदार्थों को तो छोड़ते नहीं और मुट्ठी में लिया चाहते हैं राम को। आखिर ऐसा अनजान (भोला) तो वह भी नहीं, कि अपने आप ही हत्थे चढ़ जाय।

जहां काम तहां राम नहिं, जहां राम नहिं काम।

राम तो उसको मिलता है जो हनुमान् की तरह हीरों जवाहिरों को फोड़ कर फेंक दे; "यदि उनमें राम नहीं हैं तो इस इनाम को कहां धरूं? क्या करूं?"

कुन्दकुञ्जममुं पश्य सरसीरुह लोचने।
अमुना कुन्द कुञ्जेन सखि मे किं प्रयोजनम् ॥ (सभा तरंग)

'मु' रहित 'कुन्द' कुञ्ज को मैं क्या देखूं, अर्थात् मुकुन्द नहीं तो कुन्द कुञ्ज को आग लगाऊं?

भजन करते समय निर्लज्ज चित्त में मकान के, खान पान के, अपने मान, अपनी जान के ध्यान आजाते हैं। मूर्ख को इतनी समझ नहीं कि यह चीज़ें चिन्तनयोग्य नहीं, चिन्तनयोग्य तो एक राम है।

आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥ [गीता]

प्रभु का डेरा हमारे चित्त में लगे, तो फिर कौन सी आशा है जो अपने आप पूरी न पड़ी होगी? जब तक पदार्थ में सत्तादृष्टि है, या उसमें चित्त लगाये हुए हो, सिर पटक मारो, वह पदार्थ कभी नहीं मिलेगा, या सुखदायी होगा। जब यत्नतः अथवा स्वाभाविक उस पदार्थ से दिल उठता है, अर्थात् आत्मारूपी अग्निकुण्ड में वह चीज़ पड़ती है, मन में यज्ञ हो जाता है, तो स्वयम् इष्ट पदार्थ हाज़िर हो जाता है। हिमालय पवन की ठोकर से गेंद की तरह शायद कभी उछलने भी लग पड़े, परन्तु यह क़ानून बाल के बराबर कभी इतर

नहीं हो सकता।

ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद, क्षत्रं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः क्षत्रं वेद लोकास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो लोकान्वेद, देवास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो देवान्वेद, भूतानि तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो भूतानि वेद, सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेदेदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे लोका, इमे देवा, इमानि भूतानीदं सर्वं यदयमात्मा। [बृह० उप०]

बात बात में राम दिखाता है कि मैं ही हूं, जगत् है नहीं। अगर जगत् की चीज़ें हैं, तो केवल मेरा कटाक्ष मात्र हैं। भाई! समाधि और मन की एकाग्रता तो तब होगी, जब तुम्हारी तरफ से माल,धन, बंगले, मकान पर मानो हल फिर जाय, स्त्री, पुत्र, वैरी, मित्र पर सुहागा चल जाय, सब साफ़ हो जाय, राम ही राम का तूफ़ान (अब्धि) आ जाय, कोठे दालान बहा ले जाय।

अत्र पिताऽपिता भवति, माताऽमाता, लोका अलोकाः देवा अदेवाः वेदा अवेदाः अत्रस्तेनोऽस्तेनो भवति भ्रूणहाः ऽभ्रूणहा, चाण्डालोऽचाण्डालः पौल्कसोऽपौल्कसः श्रमणोऽश्रमणः, तापसोऽतापसः। [बृह० उप०]

जाने की कोई ठौरही न रही तो फिर भडुवे मन ने कहां जाना है? सहज समाधि है।

जैसे काग जहाज़ को सूझत और न ठौर॥
मोहिं तो सावन के अन्धहि ज्यों सूझत रंग हरो॥

क्या मांगना भी उपासना का अंग है?

मांगना दो प्रकार का है, एक तो तुच्छ "मैं" (अहंता, ममता) को मुख्य रख कर अपनी वृद्धि और भोगकामना के लिये प्रार्थना करना, और दूसरा ज्ञानप्राप्ति, तत्वदर्शन, हरि-

सेवा को परम प्रयोजन ठान कर आत्मोन्नति मांगना। प्रथम प्रकार की प्रार्थना तो मानो ईश्वर को तुच्छ नामरूप (जीव) का अनुचर बनाना है। अपनी सेवा की खातिर ईश्वर को बुलाना है, उलटी गंगा बहाना है। द्वितीय प्रकार की प्रार्थना सीधी वाट पर जाना है।

आत्मा में चित्त के लीन होते समय जो भी संकल्प होगा, सत्य तो अवश्य होही जायगा, परन्तु यदि वह संकल्प अज्ञान, अधर्म और स्वार्थमय है तो कांटेदार विषभरे अंकुर की नाईं उग कर दारुण परिणाम का हेतु होगा। अहंताममता और भोगकामना सम्बन्धी ईश्वर से प्रार्थना करना मैले तांबे (ताम्र) के बर्तन में पवित्र दूध को भरना है। दुःख पाकर जो सीखोगे तो पहले ही अपवित्र वासना को क्यों नहीं त्याग देते? अशुभ भावना में औरों का भी बुरा होता है और अपनी भी खराबी। शुभ भावना, पवित्र भाव, ज्ञान विज्ञान की प्राप्ति में न केवल अपना ही कल्याण होता है वरञ्च परोपकार भी। मन में सत्व गुण, शान्ति, आनन्द और शुद्धि हो तो हमारे काम स्वयं ईश्वर के काम होते हैं। पूरे होते देर लगही नहीं सकती। भागवत पुराण में एक जगह यह श्लोक दिया है:—

देवासुर मनुष्येषु ये भजन्त्य शिवं शिवं।
प्रायस्ते धनिनो भोजा न तु लक्ष्म्याः पतिं हरिम्॥

अर्थात् प्रायः जो कोई भी त्यागी शिव की उपासना करते हैं वे धनवान हो जाते हैं और लक्ष्मीपति विष्णु के उपासक निर्धन रह जाते हैं। इस श्लोक में शिव और विष्णु की छुटाई बड़ाई दिखाने का तात्पर्य नहीं है, शिव और विष्णु तो वस्तुतः एक ही चीज़ हैं। किन्तु अभिप्राय यह है कि जिन लोगों के हृदय में शिवरूप त्याग और वैराग्य बसा है, ऐश्वर्य, धन, सौभाग्य उनके पास स्वयं आते हैं और जिन लोगों के अंतः

कारण लक्ष्मी, धन, दौलत की लाग में मोहित हैं वे दारिद्र्य के पात्र रहते हैं। जैसे जो कोई सूर्य की तरफ़ पीठ मोड़ कर अपनी छाया को पकड़ने दौड़ता है, छाया उससे आगे बढ़ती जाती है, कभी क़ाबू में नहीं आती। और जो कोई छाया से मुंह फेर कर सूर्य की ओर दौड़े, तो छाया अपने आपही पीछे भागती आती है, साथ छोड़ती ही नहीं।

कौन प्रार्थना अवश्य सुनी जाती है:-जिसमें हमारा स्वार्थांश इतना कम हो, कि मानो वह सत्य स्वभाव ईश्वर का अपना ही काम है, और यदि उपासना के समय मारे आनन्द के चित्त की यह दशा हो रही हो:—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ॥ [तैत्ति० उप०]

तो यही अवस्था ब्रह्मावस्था है और इस कारण सत्य कामता और सत्य संकल्पता तो स्वभावतः आ जाती हैं।

यह तो रही अति उत्कृष्ट उपासना। उपासना की ज़रा न्यून स्थिति बच्चे की सी श्रद्धा और विश्वास है, और यह निष्ठा भी क्या प्यारी प्यारी और प्रबल है। बच्चा अपने माता पिता को अनन्त शक्तिमान मानता है, और उनके बल को अपना बल समझ कर माता की गोद में बैठा हुआ शाहन्शाही करता है। रेल को भी धमका लेता है, पवन और पक्षियों पर हुकम चलाता है, दरिया को भी कोसने लगता है, और कोई चीज़ असम्भव जानता ही नहीं। चंद्र सूर्य को भी हाथ में लिया चाहता है:—

चांद खिलोना ले दे री मैय्या, चांद खिलोना ले दे ॥

धन्य हैं वे पुरुष उच्च भाग्य वाले, जिनका इस ज़ोर का विश्वास सचमुच सर्वशक्तिमान पिता में जम जाय, जो कुछ भी दरकार हुआ, झट देव का पल्ला पकड़ा और करवा लिया, दूध मांगना हो तो देव से. भोजन, वस्त्र मांगना हो तो देव

से, क्या अच्छा कहा है:—

जग जाचये कोउ न जाचये जे जिया जाचये जानकी जानहिरे।
जहिं जाचत जाचकता जर जाहि, जहिं जारे जोर जहानहिरे॥

दुःखी दुष्ट में, और रंगीले मतवाले मस्त में फ़रक़ सिर्फ़ इतना है कि एक के चित्त में कामना अंश ऊपर है, भक्ति अंश नीचे। दूसरे के चित्त में राम ऊपर है, और काम नीचे। एक यदि साक्षर है तो उलट पलट से दूसरा राक्षस है।

जब प्रेम और त्याग का अंश उपासना में याचना अंश से अधिक हो, तो वह मांगना भी एक तरह देने ही के तुल्य है। पर भाई! सच बात तो है यूं, कि मांगना सच्ची उपासना का कोई अंग नहीं, हां देना (उदारता) तो उपासना रूप है। जब अपने मतलब के लिये मैं तुम्हारी सेवा करूं, तो इसमें तुम्हारी भक्ति काहे की? वह तो दुकानदारी है, या ठग बाज़ी। मंगते भिखारी को कोई पास नहीं छूने देता, परमेश्वर तो बादशाह है। भिखमंगे कंगाल बन कर उसके पास जाओगे तो दूर ही से दूर २ पड़ी होगी। बादशाह से मिलने चले हो, परे फेंको मैले कुचैले, फटे पुराणे इच्छा रूपी चीथड़े! "खानों के खान महिमान" जब तक तुम बादशाह न बनोगे, बादशाह के पास नहीं बैठ सकते। इच्छा कामना की गंध तक उड़ा दो, जम कर बैठो त्याग के तख़्त पर, धारण करो वैराग्य के मोती, पहन लो ज्ञान का मुकुट, और वह तुम्हारे पास से कभी हिल जाय तो मुझे बांध लेना।

टूने कामन करके नी मैं प्यारा यार मनावांगी।
इस टूने नूं पढ़ फूकांगी सूरज अग्न जलावांगी॥
सात समुन्दर दिल दे अन्दर दिल से लहर उठावांगी।
बदली होकर चमक डरावां बन बादल घर घर जावांगी॥टूने॰
इश्क अंगीठी असपंद तारे सूरज अग्न चढ़ावांगी।

लासवां शौह नूं गल अपने तद मैं नार कहावांगी ॥टूने०
ना मैं व्याही ना मैं कुआरी बेटा गोद खिलावांगी।
बुल्हा लामकान दी पौड़ी उत्ते बह के नाद बजावांगी ॥टूने०

[पंजाबी काफी, बुल्हा शाह]

उपासना और ज्ञान ।

उपासना ऐसे है जैसे गुणन के उदाहरण सिद्ध करना और ज्ञान यह है कि बीज गणित तक पहुंच कर उस गुणन की विधि का कारण आदि भी जान जाना। उपासना साधन है, ज्ञान सिद्ध अवस्था । उपासना में यत्न के साथ अन्दर बाहर ब्रह्म देखा जाता है । ज्ञान वह है जहां यत्नरहित स्वाभाविक अन्दर तो रोम रोम से "अहं ब्रह्मास्मि" के ढोल और सब वृत्तियों को दबादें,और बाहर हर त्रिसरेणु "तत्त्वमसि" का दर्पण दिखाता हुआ भेदभावना को भगादें । यह ज्ञान ही असली त्याग हैः—

त्यागः प्रपञ्चरूपस्य चिदात्मत्वावलोकनात् ।
त्यागो हि महतां पूज्यः सद्यो मोक्षमयो यतः ॥

जहां श्रुति ने त्याग का उपदेश वर्णन किया है "तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा" वहां त्याग का लक्षण इतना ही किया है ॥

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ॥ [ईश०उप०]
जो कुछ दीखे जगत् में सब ईश्वर से ढांप ।
कर हो चैन इस त्याग से धन लालच से कांप ॥

ऊपर ऊपर के त्याग इस असली त्याग के साधन हैं,यह त्याग रूपी ब्रह्मदृष्टि यत्नतः करना उपासना है । "अब यह त्याग रूपी उपासना भी और त्यागों या दानों की तरह होगी, करें वा न करें,किसी को पैसा दें या न दें हमारी इच्छा पर है" जो ऐसा समझे हैं धोके में हैं । यह त्याग रूपी उपासना आव-

श्यक है। आवश्यक क्यों कि और कहीं ठंड पड़ने की नहीं।

वृत्ति तब तक एकान्त नहीं हो सकती जब तक मन में कभी यह आशा रहे और कभी वह इच्छा। शान्त वह हो सकता है जिसे कोई कर्त्तव्य और आवश्यकता खींच घसीट न रही हो। अपने आप तो इन वासनाओं ने पीछा छोड़ना ही नहीं, जब पल्ला छुटेगा, आप छुड़ाना पड़ेगा। इसलिये जीने तक की आशा को भी त्याग कर मन को ब्रह्मानन्द में डाल दो। एक दिन तो शरीर ने जाना ही है, सदा के लिये पट्टा तो लिखवा कर लाये ही नहीं थे। आज ही से समझ लो कि यह है नहीं और ब्रह्मानन्द के सागर में शङ्का रहित होकर कूद पड़ो। आश्चर्य यह है कि जब हम इन कामनाओं को छोड़ ही बैठते हैं, वह अपने आप पूरी होने लग पड़ती हैं।

गङ्गातीरे हिमगिरिशिला बद्धपद्मासनस्य।
ब्रह्मध्यानाभ्यसनविधिना योगनिद्रां गतस्य॥
किं तैर्भाव्यं मम सुदिवसैर्येषु ते निर्विशंकाः।
कण्डूयन्ते जरठ हरिणाःश्रृङ्गमङ्गे मदीये॥ [भर्तृहरि]

जब दिल में त्याग और ज्ञान भरता है और शान्त साक्षी बन कर विचार (observation) शक्ति आती है तो वही दुनिया जो माया का परदा हो रही थी राम की झांकियों का लगातार प्रवाह बन जाती है। 'दर्शन धारा' कहला सकती है, एक रस अभिव्यञ्जक हो जाती है। वह लोग जो भेद वाद और अभेद वाद के शास्त्रार्थ में लीन हैं उनको झगड़ने दो, उस अवस्था के लिये यह बुद्धि की छानबीन भी अयुक्त नहीं, परन्तु जब बुद्धि (अर्थात् सूक्ष्म शरीर) के तल से उतर कर कारण शरीर (subjective mind; ganglionic conciousness) में ज्ञान भाव का दीवा जलता है तो यह झगड़े ते होते हैं, और जब तक मनुष्य के आन्तर हृदय

(मानो सातवें परदे) में राम का डंका नहीं बजता तब तक उसे न उपासना ही रस देगी न ज्ञान, न वेद की संहिता का अर्थ आयगा न उपनिषद् का।

जैसे भूके भूक अनाज, तृषावन्त जल सेती काज।
जैसे कामी कामिनी प्यारी, वैसे नामे नाम मुरारि॥

टेलीफ़ोन द्वारा प्यारे ने बातें कीं, टेलीफ़ोन प्यारी लगने लगी। जब तक मोहन दूसरी जगह है टेलीफ़ोन की बड़ी क़दर है, जब मोहन अपने घर आगया तो अब टेलीफ़ोन क्या? ये मित्र, सम्बन्धी, राजे, धन, दौलत सब टेलीफ़ोन हैं; जिन द्वारा राम हमसे बोलता था। जब तक राम नहीं मिला था, दिल कांपता था कि हाय! इन बिना कैसे सरेगी? वह प्यारा घर आ गया, आ मिला, अब तो हे मित्र गण! मुझको भले छोड़ दो, सम्बन्धी जनो! त्याग जाओ, धन दौलत! लुट जाओ, भाग जाओ इज्जत सन्मान! बेशक पीठ दिखाओ, यहां बैठे क्या करते हो, राजा जी! निकाल दो अपने देश से, घर रक्खो अपनी दुनिया।

राजा रूठे नगरी राखे अपनी, मैं हर रूठे कहां जाना?
अब दिलबर घर आया है। नैनों का फ़र्श बिछाऊंगी॥
गुण औगुण पर घर चिन्गारी। यह मैं धूप धुकाऊंगी॥
प्राणों की मैं सेज करूंगी। हरि को गले लगाऊंगी॥

शिवोऽहम् भाव (अद्वैत दृष्टि) बिना सम्यक् शुद्धि नहीं होगी।

"शिवोऽहम्" तो सभी कहते हैं, क्या भेदवादी क्या अभेदवादी, क्या भक्त, क्या कर्मकाण्डी, क्या हिन्दू क्या और कोई। सबही अपने दिल के भीतर से अपने आप को बड़े से बड़ा मानते हैं और साबित करते हैं। वह भेदवादी भक्त

जो अभी मन्दिर में देव के सामने अपने तईं 'नीच पापी अधम मूर्ख' कहते कहते थकता नहीं था, जब बाहर बाज़ार में निकला तो उसे कोई "अरे ओ नीच" कहकर पुकारे तो सही, फिर देखो तमाशा, कचहरियों में क्या क्या गति होती है। अन्दर का 'शिवोऽहम्' कभी मरही नहीं सकता। मरे क्योंकर, सांच को आंच कहां? पर हां! अपने तईं देहादि रख कर जो शिवोऽहम् का मुलम्मा ऊपर चढ़ाना है यह तो पौंड्रक की नाईं झूंठा विष्णु बनना है। इस प्रकार से 'वासुदेवोऽहम्' सब दुनिया अहंकार की बोली द्वारा बोल रही है। यह तो मैले ताम्र के पात्र में पायस पकाना है और ज़हर से मर जाना है। वेदान्त का उपदेश यह है कि खीर तो पिया जाय, पर मैले ताम्र पात्र में नहीं। देहाभिमान अन्दर और शिवोऽहम् का ऊपर २ से मुलम्मा तो हो नहीं बल्कि शिवोऽहम् अन्दर हो और अन्दर से अग्नि की तरह भड़क २ कर देहाभिमान को जला दे। यह हो गया तो देहाभिमान, कृपणता, भय, शोक की ठौर कहां? इस भेद को (नहीं अभेद को) जिसने जाना, निधड़क हो गया, उदारता मूर्त्तिमान बन गया, बल शक्ति और तेज का दरिया (नद) हो निकला। कोई भी बल हो कहां से आता है? उस उदारता से जिसमें शरीर और प्राण की बलि देने को हम तय्यार हों, शिर को हथेली पर लिये चलें। देखो यारो! जब "ज्योतिषां ज्योतिः" अपने आप को पाया तो शिर से गुज़र जाना रूपी सूर्मापन स्वतः कैसे न आजायगा?

अब ज़रा ध्यान देकर सुनना, मैं तुमसे कुछ मांगता तो नहीं?

पूत कहे, अवधूत कहे, रजपूत कहे, जुलहा कहे कोऊ।
काहू की बेटी से बेटा न ब्याहूं, काहुकी जात बिगाड़ न सोऊं।

मांग के खाऊं, श्मशान में सोऊं, लेने की एक न देने की दोऊ।

किसी के टके देने नहीं, किसी से कौड़ी लेनी नहीं, लाग लपेट से क्या? कड़वा मानो, मीठा मानो, सच ही कहूंगा, पर्वत के शिखर के शिखर से राम पुकार कर सुनाता है:— संसार को सत्य मान कर उसमें कूदते हो. फूस की आग में पच पच कर मरते हो, यह उग्र तपस्या क्यों? इससे कुछ भी सिद्धि नहीं होगी। देहाभिमान के कीचड़ में, अपने शुद्ध सच्चिदानन्द स्वरूप को भूल कर, फंसते हो, दल दल में धसते हो, गल जाओगे। ब्रह्म को विसार कर दुःखों को बुलाते हो,शिर पर गोले बरसाते हो, और गुल (पुष्प)! जल जाओगे। सत्य को जवाब देकर मिथ्या नामरूप में क्यों धक्के खाते हो? जिनको श्वेत माखन का पेड़ा समझे हो, यह तो चूने (क़लई) के गोले हैं। खाओ तो सही, फट जांयगी अंतड़ियां, झूठ बोलने वाले का बेड़ा ग़र्क़। मैं सच कहता हूँ, दुनियां की चीज़ें धोका हैं। होश में आओ ब्रह्म ही ब्रह्म सत्य है। ज्येष्ठ आषाढ़ की दोपहर के वक़्त भाड़ की तरह तपे हुए मरुस्थल में मंकि मुनि जब अति व्याकुल हो रहा था,और उसने पास के एक ग्राम में जाकर आराम करना चाहा, उस समय वसिष्ठ भगवान् के दर्शन हुए। वसिष्ठ जी कहते हैं:—बेशक इस गरमी में हज़ार बार जल मर,पर वहां मत जा, जहां तनु के तनूर में पड़ेगा। यहां पर तो शरीर ही जलता है, वहां अविद्या के ताप से सारे का सारा सड़ेगा।

वरमंध गुहा हित्वं शिलान्तः कीटता वरम्।
वरं मरौ पंगु मृगो न ग्राम्य जन संगमः॥ [योगवासिष्ठ]

आप बीती कहूं कि जग बीती:—जब कभी भूले से किसी सांसारिक वस्तु में इष्टता वा अनिष्टता का भाव जमाता हूं, हानि लाभ, छुटाई बड़ाई में दिल टिकाता हूं, तन्दुरुस्ती

(देह की आरोग्यता) आदि को बड़ी बात गरदानता हूं, किसी पुरुष को अपना वा पराया ठानता हूं, कोई चीज़, भावी व वर्त्तमान. सत्य मानता हूं, अपने आप को परिच्छिन्न देहादि जानता हूं, अर्थात् शुद्ध स्वरूप को भूल कर. शरीर में जम कर भेददृष्टि से देखता और विचार करता हूं, तो अवश्यमेव तीन तापों में कोई न कोई आन घेरता है। मेरी दृष्टि थोड़ी गिरे तो ताप भी थोड़ा होता है, बहुत गिरे, तो ताप भी बहुत। इस क्षुद्र दृष्टि और तुच्छ भावना का फल खेद दुःख मिले विना कभी नहीं रहता। और जब देहादि स्वप्न को परे मार, भेदभावना को उड़ाकर आत्मदृष्टि खोलता हूं, तो संसार के तत्व ऐसे हो जाते हैं, जैसे किसी के अपने हाथ पैर, जिस तरह चाहे हिला ले। प्रकृति की चाल मेरी आंखों की कटाक्ष हो जाती है। यही क़ानून और सब लोगों के दुःख सुख लाने में भी राज करता है, इसको न जान कर लोग मरते हैं। यह क़ानून कहीं कच्चा सूत न समझ लेना, अनाड़ी का काता हुआ। यह वह लोहे का रस्सा है जिससे इन्द्र और सूर्य भी बांधे पड़े हैं। संसार समुद्र में यह वह एक पत्थर की चट्टान है जिसको न देख कर महाराजे, पण्डित, देव और दानव अपने जहाज़ों (पोतों) को तोड़ बैठते हैं। वंशों के वंश, क़ौमों की क़ौमें, मुल्कों के मुल्क इस क़ानून को भुला कर मट्टी में मिल चुके हैं।

अजगर ने समझा कि कृष्ण को खाही लूंगा और पचा जाऊंगा। लो खा गया, पर पेट के अन्दर चलीं कटारियां। खंड भंड होकर आतशबाज़ी के अनार की तरह अजगर उड़ गया, और कृष्ण वैसे का वैसा शेष रहा। क्या तुम इस सत्य रूपी क़ानून को खा सकते हो? दबा सकते हो? छिपा सकते हो? इस सत्य को किसी का लिहाज़ नहीं। और तो और,

खुद कृष्ण के कुल वाले जब सत्य को मखौल में उड़ाने लगे, और अपनी तरफ़ से मानो इसे रगड़ रगड़ कर रेत में मिला भी गये। तो यह सत्य मख्या मेल होकर भी फिर उगा, और क्या कृष्ण और क्या यादव सब के सब को हड़प कर गया, द्वारका पर पानी फिर गया। भाई! मुरदे को उठा कर जो चिल्लाया करते हो "राम राम सत्य है" आज पहलेही समझ जाओ, अभी समझ लो तो मरोगे ही नहीं, मरने के वक्त गीता तुम्हारे किस काम आयगी? अपनी ज़िन्दगी को ही भगवत् का गीत बनादो। मरते वक्त दीवा (दीपक) तुम्हें क्या उजाला करेगा? हृदय में हरिज्ञानप्रदीप अभी जला दो।

कृष्ण त्वदीय पद पंकज पञ्जरान्ते।
अद्यैव मे विशतु मानस राजहंसः॥
प्राणप्रयाणसमये कफ वात पित्तैः।
कण्ठावरोधन विधौ स्मरणं कुतस्ते॥[पाण्डव गीता]

पतितः पशुरपि कूपेनिःसर्तुं चरणचालनं कुरुते।
धिक्त्वा चित्त भवाब्धेरिच्छामपि नाबिभर्षिनिःसर्तुम्॥

एक जुलाहा भूखों मर गया, उसकी मां मुरदे के मुंह और पायु को पैसे का घी लगा कर सबको दिखाती थी, देखलो! मेरा पुत्र भूखा नहीं मरा, घी खाता और घी त्यागता गया है। प्यारे! उधारी मुक्ति तो जुलाहे का घी है। रोकड़ मुक्ति (नक़दनिजात) जीवनमुक्ति, जब मिल सकती है, तो क्यों न लेनी?

सच्चा उपासक।

भाई! सच्ची कहें? उपासक और भक्त होने की पदवी हमको तो नसीब नहीं। हमने तो सच्चा उपासक सारी दुनिया में एक ही देखा है। बाक़ी भक्तों, ऋषियों, मुनियों, पीरों, पैग़म्बरों का "प्रेममय उपासक" कहलाना एक कहने ही

की बात है । वह सच्चा आशक्त और उपासक कौन है जिसको लोग उपास्य देव कहते हैं, क्योंकर ? प्रेमी, जार (यार) की तरह छिप छिप कर छेड़ता है। शनैः २ वृत्ति की कन्नी (चित्त का आंचल) खींचता है। अनेक प्रकार के भेष बदल कर, रंग रूप धारण करके, स्वांग भरके परदों की ओट में नयनों की चोट मार जाता है । जब मन अनात्म पदार्थों में कहीं लग जाता है तो हा! फिर उसके मान करने (रूठने) का क्या कहना ? भृकुटी कुटिल किये कैसा २ कोप दिखाता है ! जब वृत्ति मार्ग में कहीं रुक जाय तो चुटकियां भरता है। दम तो लेने नहीं देता, आराम तो नाम को भी और कहीं नहीं मिलने पाता, सिवाय एक मात्र उस राम की निष्काम शय्या के।

हे प्यारे ! अब आशक होकर रूठना (मचलना) कैसा ? अब रस चखा कर नटते हो ? हे प्राणनाथ! इधर देखो ! वह दुष्ट शिशुपाल आ पड़ा, छीन कर ले चला तुम्हारी हक्कानी को। कुछ रास, शर्म भी है ? यह तो वक्त मान करने का नहीं, आओ आओ !

त्वमसि ममभूषणं, त्वमसि ममजीवनं, त्वमसि ममजलधिरत्नं।
भवतु भवतीह मयि सतत मनुरोधिनस्तत्र मम हृदयमतियत्नं॥

[जयदेव]

सूर्य को बारह महीने तेज प्रकाश दे दिया मुफ़्त में।
हमको आठों पहर निजानंद देते कंगाल तो नहीं हो चले ?

हे प्रभो! अब तो मुझसे दो दो बातें नहीं निभ सकती। खाने पीने कपड़े कुटिया का भी ख़याल रक्खूं और दुलारे का भी सुख देखूं ! चूल्हे में पड़े पहनना, खाना, जीना; मरना, इनसे मेरा निर्वाह होता है ? मेरी तो मधूकरी हो तो तुम, कामली हो तो तुम, कुटि हो तो तुम, औषधि हो तो तुम, शरीर हो

तो तुम, आत्मा हो तो तुम। शरीरादि को रखना चाहते हो तो पड़े रक्खो। अकर्ता बन रहे हो, निकम्मे बैठे क्या करते हो? करो सेवा।

आंखें लगा के तुझसे न पलकें हिलाएंगे।
देखेंगे खेल हम, तुम्हें आगे नचाएंगे॥

वयं सोम व्रते तव मनस्तनूषु बिभ्रतः॥ [यजुर्वेद]

तुम्हारी खातिर हे प्रभो! यह मन था तन बीच॥

लेलो अपनी चीज़। वार कर फैंक दो अपने "बेनाम" पर। स्थाली भर भर कर हीरे, जवाहिरात, तुझ पर वार २ कर फैंके गये। जिनको लोग तारे, नक्षत्र, ग्रह, चन्द्र, सूर्य और पृथिवियां कहते हैं, लूट लो ज्योतिषियो, लूट लो तत्व-विज्ञानियो, लूट लो सौदागरो, राजाओ लूट लो। पर हाय! मार डालो तो भी मैं तो यह माल नहीं लूंगा। डोली पर वार कर फैंका हुआ टका रूपया लूटना कोई और लोगों का काम है। मैं तो वही लूंगा, वही! परदे वाला, दुलारा, प्यारा।

उपासना के मंत्र।

तासीर उस उपासना की होती है, जो दिल से निकले। गले के ऊपर ऊपर से निकले हुए उपासना के वाक्य तो मानो मखौलबाज़ी है और परमेश्वर को झुटलाना है। जैसी चित्त की अवस्था होगी, सच्ची उपासना की वैसी सूरत होगी।

(१) विद्यार्थी (मुमुक्षु) की प्रार्थनाः—

(क) ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः। वाचस्पतिर्बला तेषांतन्वो अद्यदधातु मे॥ पुनरेहिवाचस्पते देवेन-मनसासह। वसोष्पतेनिरमय मय्येवास्तु मयिश्रुतम्॥ इहैवाभिवतनूभे अर्त्नीइवज्यया। वाचस्पतिर्नियच्छतु मय्येवास्तु मयिश्रुतम्॥ उपहूतो वाचस्पतिरुपास्मान् वाचस्पति-

ह्वयताम् । सश्रुतेन गमेमहिमाश्रुतेनविराधिषि ॥[अथर्ववेद]

इसमें वाच् (वाणी) के पति (वाचस्पति) रूप ब्रह्म का ध्यान है। जब लोहा अग्नि में पड़ा रहे, अग्नि के गुण उसमें आजाते हैं, इस तरह जब बुद्धि वाच् (वा मन) के पति सर्वव्यापी चैतन्य में कुछ काल अभेद रहे, तो उसमें विचित्र शक्ति कैसे न आजायगी ?

कोई भी मन्त्र हो उनको खाली पढ़ या गा ही नहीं छोड़ना, किन्तु पढ़ कर उनके भावार्थ में मनको लीन और शान्त होने देना चाहिये।

(ख) यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदुसुप्तस्य तथैवेति।
दूरङ्गमंज्योतिषां ज्योतिरेकंतन्मेमनः शिव संकल्पमस्तु ॥
[यजुर्वेद]

भावार्थः-क्या जाग्रत, क्या स्वप्न, क्या सुषुप्ति, तीनों दशा में मेरा मन किसी और विचार की तरफ़ न जाने पाय, सिवाय शिवरूप आत्मचिन्तन के। चलते, फिरते, बैठे, खड़े मेरा मन शिवरूप सत्यस्वरूप आत्मा के सिवाय और कोई चिन्तन न करने पाय। इसी प्रकार शु० यजु० अ० ३४ के अगले पांच मंत्र भी यही भाव प्रकट करते हैं।

(ग) ॐ भूर्भुवःस्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गोदेवस्यधीमहि।
धियो योनः प्रचोदयात् ॥ [गायत्री मंत्र]

यहां पर पहले तो यह देखना है, कि 'धीमहि' और 'नः' दोनो बहुवचन हैं। एकान्त में अकेले तो इस ब्रह्मगायत्री का ध्यान है और "हम ध्यान करते हैं" "हमारी बुद्धियां" ऐसा क्यों ? "मैं ध्यान करता हूं" और "मेरी बुद्धि" क्यों नहीं लिखा ? इसमें वेद की आज्ञा यूं है, कि प्रथम तो देहाभिमान रूप स्वार्थदृष्टि और परिच्छिन्नता का परित्याग करना है। सब देश के लोगों को अपना स्वरूप जान कर, सब शरीरों

को अपना शरीर मान कर, सब के साथ एक होकर अभेद बुद्धि के साथ यह ध्यान करना हैः—

"वह सविता देव जो हमारी बुद्धियों को चलाता है, उसके प्रिय (पूज्य) तेज (स्वरूप) का हम ध्यान करते हैं।" "प्रचोदयात्" में महीधर और सायणाचार्य ने व्यत्यय माना है और यह ठीक भी है। सूर्य रूप सविता देव को हमारी बुद्धियों का प्रेरक माना है। वही जो सूर्य को प्रकाश करता है वही बुद्धियों को प्रकाशता है, वही आत्मा है। "योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्" ॥" (यजुर्वेद)

उसका ध्यान करने से क्या लाभः-बड़ी आपदा आन पड़ी और संध्या करते समय परमेश्वर को भुठलाया नहीं, किन्तु सचमुच बार बार देहदृष्टि को छोड़ कर जो यह ध्यान किया कि "मैं तो सूर्य के प्रिय तेज वाला हूं, मेरा तो वही धाम है." तो कहिये, चिन्ता जल न जायगी ? प्रतिदिन तीन वक़्त, या दो वक़्त, या एक काल ही सही, सच्चे भाव के साथ जो इस तत्त्व में लीन हुए कि "इन बुद्धियों का प्रेरक आत्मदेव (मैं) तो वही हूं जिसका तेज सूर्य चन्द्रमा में चमक रहा है," तो कहिये कौन सा अन्धेरा खड़ा रह सकता है ? विद्या पढ़ रहे हैं या कोई बड़ा कार्य हाथ में है और हर दिन एकान्त में बैठ बैठ और सब तरफ़ से वृत्ति को खैंच, तेज के पुञ्ज में अभेदभावना करते हैं, तो यारो ! दुहाई है अगर यश और कीर्ति खिचकर तुम्हारे आगे नृत्य न पड़ी करें। क्या "खलु क्रतु मयः पुरुषः।" श्रुति ने झूठ ही कह दिया था?

---

(२) जब चित्त संसार में डूब जाय, क़ानून रूहानी टूट जाय, पाप कर्म हो जाय, आत्मदेव भूल जाय, तब आंसू भरे नयन, जोड़े हुए हाथ, रगड़ते हुए घुटने, माटी में घिसता

हुआ माथा, जलता हुआ दिल, यदि इस प्रकार की उपासना करें, तो वह कौन सा पाप है जो धुल न जायगाः—

मोषु वरुणमृन्मयं गृहं राजन्नहं गमन्। मृळा सुक्षत्र मृळय॥
यदेमि प्रस्फुरन्निव दृतिर्न ध्मातो अद्रिवः। मृळा सुक्षत्र मृळय॥
क्रत्व समह दीनता प्रतीपं जगमाशुचे। मृळा सुक्षत्र मृळय॥
अपां मध्ये तस्थिवांसं तृष्णाविदज्जरितारम्। मृळा सुक्षत्र मृळय॥
यत्किंचेदं वरुण दैव्ये जनेऽभिद्रोहं मनुष्य ३ श्चरामसि
अचित्ती यत्तव धर्मा युयोपिम मा नस्तस्मादेनसो देवरीरिषः॥

(ऋ० मं० ७ सं० ८९)

सोने का गढ़ छोड़ कर धसूं न कांटों बीच।
हीरे मोती फेंक कर लेऊं न माटी कीच॥

अब दया! हे राम! अब दया! मैं भूला, मैं डूबा, मैं पड़ा, मैं गिरा, मैं मरा। अब दया! हे राम! अब दया!

(३) जब तक देह में प्रीति और किसी प्रकार की कामना बनी रहती है तब तक तो भेद उपासना ही दिल से निकलेगी। प्रेम, अनुराग जब बहुत बढ़ेगा, तो उपासना की यह शकल हो जायगी:—

तं त्वा भग प्रविशानि स्वाहा। स मा भग प्रविश स्वाहा॥
तस्मिन्सहस्र शाखे। निभगाहं त्वयि मृजे स्वाहा॥ [तैत्ति० उप०]

यह भेद उपासना उच्चतम श्रेणी को पहुंच जाय तो इस का ढंग कुछ यूं होगा :—

ॐ गणानांत्वा गणपति ँ हवामहे। प्रियाणांत्वा प्रियपति ँ हवामहे। निधीनांत्वा निधिपति ँ हवामहे। वसो मम, आहमजानि गर्भधमा त्वमजासि गर्भधम्॥ [यजु० संहिता.]

रफ़ीक़ों में गर है मुरव्वत तो तुझ से।
अज़ीज़ों में गर है मुहब्बत तो तुझ से॥ ......

खज़ानों में जो कुछ है दौलत तो तुझ से।
अमीरों में है जाहो-सौलत तो तुझ से॥
हकीमों में है इल्मो-हिकमत तो तुझ से।
है रौनक़ जहां या है बर्कत तो तुझ से॥
है रोकर यह तकरारे-उलफ़त तो तुझ से।
कि इतनी यह हो मेरी क़िस्मत तो तुझ से॥
मेरे जिस्मो-जां में हो हरकत तो तुझ से।
उड़े मा, मनी की वह शिरकत तो तुझ से॥
मिले सदक़ा होने की इज्ज़त तो तुझ से।
सदा एक रहने की लज्ज़त तो तुझ से॥

महेचन त्वामद्रिवः परा शुल्काय देयाम्। न सहस्राय नायुताय वज्रिवो न शताय शतामघ॥ [सामवेद]

(४) पर हां, जो लोग सदा के लिये निचले दरजे की उपासना का पेशा बना लेते हैं वह अनर्थ करते हैं, क्योंकि अगर कोई प्रार्थना एक दफ़ा भी सच्चे दिल से निकली थी तो कोई वज़ह नहीं कि चित्त की अवस्था बदल न गई होती और दिल का दरजा बढ़ न गया होता। यदि मन दूसरी क्लास (दरजे) में चढ़ गया, तो फिर पहली क्लास में रोना क्यों? यदि नहीं चढ़ा, तो वह प्रार्थना झूठ बकवास थी, अब झूठी बक बक को पेशा बनाया चाहता है। उपासना का परम प्रयोजन यह था कि शरीर के स्नेह से चित्त मुड़े और आत्मा संग जुड़े। सच्चे उपासक को जब शरीर से हुआ अपराध याद आता है, तो वह 'सांसारिक अपने आप' से भागना चाहता है। हरि की शरण में आता है और आत्मा से तदाकारता पाता है। ऐसा ध्यान एक दफ़ा नहीं, दो दफ़ा भी हो जाय तो फ़ायदा है, कोई डर नहीं। परन्तु जो लोग "पापोऽहं

पापकर्माहं पापात्मा पापसम्भवः" को प्रतिदिन पढ़े ही रटते हैं, उनको इस प्रकार की आवृत्ति न केवल देह से सम्बन्ध पका देती है, बल्कि पाप संस्कार मन में दृढ़ जमा देती है। शुद्ध अन्तःकरण और सच्चे हृदय वालों से भेद उपासना कभी हो ही नहीं सकेगी, जैसे एम. ए. क्लास के विद्यार्थी का जी मिडल क्लास वालों की पुस्तकों में कभी लगही नहीं सकता।

ज्ञानी।

अब ज़रा चौकन्ने होकर सुनने का समय है। लो अब फिर फोड़ते हैं भांडा। निर्भयता, जीवन मुक्ति, साम्राज्य, स्वराज्य, और किसी को कभी भी नहीं नसीब होते सिवाय उस पुरुष के, जो अपने आप को संशयरहित होकर पूर्ण ब्रह्म शुद्ध सच्चिदानन्द नित्य मुक्त जानता है, जो सर्वत्र अपने ही स्वरूप को देखता है। क्यों हिलेगा उसका दिल जो एक आत्मदेव विना कुछ और देखता ही नहीं? बड़ा भयानक घोर शब्द हुआ, पर सिंह क्यों डरे, वह तो सिंह की अपनी ही गर्ज थी। लोहा तलवार के जौहरों से क्या भय माने, वह तो उसी के तेज़ चमत्कार हैं। अग्नि अपनी ज्वाला से आप क्या संतप्त हो? तारे टूट पड़ें, समुद्र जल उठे, हिमालय उड़ता फिरे, सूर्य मारे ठंड के बर्फ़ का गोला बन जाय, आत्मदर्शी ज्ञानवान् का क्या हैरानी हो सकेगी, जिसकी आज्ञा से कुछ भी बाहर नहीं हो सकता।

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥ [केन॰ उप॰]

अपि शीत रुचा वर्के सुतीक्ष्णे चेन्दु मण्डले।
अप्यधः प्रसरत्यग्नौ जीवन्मुक्तो न विस्मयी॥
प्रलयस्यापि हुंकारैर्महाचल विचालकैः।
विक्षोभं नैति यस्यात्मा स महात्मेति कथ्यते॥

भेद भावना दिल से छोड़। निर्भय बैठा मूछ मरोड़॥

सूर्य उसीके हुकुम से जलता है, इन्द्र उसीका पानी भरता है, पवन उसीका दूत है, उसीके आगे दरिया रेत में माथा रगड़ते है, राजे महाराजे, देवी देवता, वेद किताब जो कुछ भी है, एक आत्मदर्शी का संकल्प मात्र है। तीनों भुवन और चारों खानि जंगल हैं, जिनमें रौनक केवल एक चैतन्य पुरुष रूप ज्ञानवान की हैं। त्रिलोकी लालटेन है जिसमें ज्योतिरूप ज्ञानवान् है। चौदह लोक एक शरीर हैं, प्राण जिसके ज्ञानवान् है। बस वही सत् है, और कुछ भी नहीं। पृथ्वी अन्न पैदा करती है कि कभी ब्रह्मनिष्ठ के चरण पड़ें। ऋतु बदलते हैं कि कभी आत्मस्वरूप महात्मा के दर्शन नसीब हों। "सुर तिय, नर तिय, नाग तिय" इन सबको उदर में बोझ उठाने पड़े, वेदना सहनी पड़ी, उस एक अज, अमर रूप ज्ञानी को प्रकट देखने के लिये। दुनिया के राज्य काज उसके लिये थे, वह आया तो राज्य काजों की ड्यूटी (कर्तव्य) पूरी हुई। घर बनते रहे थे, कपड़े बुने और पहने जा रहे थे ब्रह्मनिष्ठ की पधरावनी के लिये। वह आया, सब परिश्रम सफल हो गये। रेलें चलती थीं, पीतें बहती थीं, कभी ब्रह्मनिष्ठ तक पहुंचने के लिये। युद्ध होते थे, लोग मरते थे, कभी जीवन्मुक्त की झांकी के लिये। नाना विधि विकास (evolution) एक ज्ञानवान् रूप फल की खातिर था। उपासना, प्रार्थना, भक्ति, नाक रगड़ना, आठ आठ आंसू रोना, प्रेम की ज़र्दी (पीत) कब तक थी, जब तक ज्ञान की लाली नहीं आई।

ब्रह्म विद इव सोम्य ते मुखं भाति॥ [छांदो० उप०]

प्रसंग्रथार।

अभेद उपासना की विधि; मनन, निदिध्यासनः-शास्त्र

में से उन वाक्यों को चुन लिया, जो मन में खुबते, चित में चुभते हैं। और उनको एकांत में बैठ कर नीचे दिखाई विधि से बर्तो। जैसे शंकर के आत्मपंचक स्तोत्र को ले लिया:—

नाहं देहोनेंद्रियाण्यं तरंगम्
नाहंकारः प्राणवर्गो न बुद्धिः।
दारापत्य क्षेत्रवित्तादि दूरः
साक्षीनित्यः प्रत्यगात्मा शिवोऽहं॥

नहीं देह इंद्रिय न अन्तः करण।
नहीं बुद्ध्यहंकार वा प्राण मन॥
नहीं क्षेत्र, घर बार, नारी न धन।
मैं शिव हूं, मैं शिव हूं चिदानन्द घन॥

चौथे पाद को दिल में वारम्बार दुहराया, और नीचे दिखाए विचार पूर्वक दोहराते गये, यहां तक कि मन शिथिल हो जाय। निस्सन्देह, ऐसी तहक़ीक़ात (मीमांसा) से जिसमें विकल्प कभी स्वप्न में भी युक्त नहीं, मैं देह आदि नहीं, फिर देहभ्रम को अपने में क्यों आने दूंगा? देह अभिमान करना, युक्ति दलील को उल्लंघन करना है, महा मूर्खता, बेअक्ली है।

मैं शिव हूं, मैं शिव हूं चिदानन्द घन॥

निस्संदेह वेद, वेदांत का अंतिम निष्कर्ष और कुछ नहीं। वेद और सत् शास्त्र मुझको देह आदि से भिन्न बताते हैं, मेरा अपने तईं देह आदि ठानना घोर नास्तिक बनना है, यह अपराध मैं क्यों करूं?

मैं शिव हूं, मैं शिव हूं चिदानन्द घन॥

गुरू जी ने मुझे अपने साक्षात्कार के बल से कहा "मैं देह आदि नहीं"। फिर मेरा देहाभिमान रखना पूज्यपाद गुरू जी के मुंह और ज़बान पर जूते मारना है। हाय! यह उप-

द्वेष मैं क्यों करूं ?

मैं शिव हूं, मैं शिव हूं चिदानन्द घन ॥

शरीर आदि की पीड़ा, सम्बन्ध, लोगों की ईर्षा, द्वेष, सेवा, सन्मान से मुझे क्या ? कोई बुरा कहे, कोई भला कहे, मैं एक नहीं मानूंगा। जो आप भूले हुए हैं, उनका क्या भरोसा? केवल शास्त्र और प्रमाण ही माननीय हैं, मुझ में कोई पीड़ा नहीं कोई शोक नहीं, ईर्षा नहीं, राग नहीं, जन्म नहीं, देह नहीं मन नहीं।

मैं शिव हूं, मैं शिव हूं चिदानन्द घन ॥
मैं शिव हूं, मैं शिव हूं चिदानन्द घन ॥
मैं शिव हूं, मैं शिव हूं चिदानन्द घन ॥

मां छोटे बच्चे को आम्रफल खेलने को देती है। बच्चा दस्तूर के मुवाफ़िक़ हाथ से पकड़ कर मुंह के पास ले जाता है और लगता है चूसने। चूसते चूसते आख़िर वह फल फूट पड़ा, और बच्चे के हाथ पर, मुंह पर, कपड़ों पर रस ही रस फैल गया। अब तो न कपड़े याद हैं, न मां याद है, न हाथ मुंह का ही होश है, रसरूप हो रहा है। इसी तरह श्रुति माता का दिया हुआ यह पका हुआ महावाक्य रूपी अमर फल एकान्त में अन्तःकरण के साथ दुहराते २ दुहराते २ आख़िर फूट पड़ता है और परमानन्द समाधि आ जाती है।

आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ॥ [ब्रह्म सूत्र ४-१-२]

जब सर्व देश अपने आत्मा में पाने लगे, तो परोक्ष क्या रहा ? और स्थान सम्बन्धी चिन्ता क्योंकर उठे ? जब सर्व काल में अपने तईं देखा, तो कल परसों आदि की फ़िकर कहां रही ? जब सर्व मनुष्य और पदार्थ सचमुच अपना ही रूप जाने गये, तो यह धड़का कैसे हो कि, हा ! जाने अमुक

पुरुष मुझे क्या कहता होगा ? जब कार्यकारण सत्ता आप हुए, तो चित्तवृत्तियों का बेड़ा कैसे न डूबे ? मन पारा खाये हुए चूहे की तरह हिलने झुलने से रह जायगा। मानो चित्त के बच्चे ही मर गये। सहज समाधि तो स्वयं होनी ही होगी।

क्या सोचे क्या समझे राम ? तीन काल का वां क्या काम ?
क्या सोचे क्या समझे राम ? तीन लोक नहिं उपजा धाम।
नित्य तृप्त सुखसागर नाम, क्या सोचे क्या समझे राम ?

इस सिर से गुज़र जाने में जो स्वाद, शांति और शक्ति आते हैं, वही जानता है जो इस रस को चखता है। राजा जनक ने यह अमृत पीकर अपना अनुभव यूं वर्णन किया हैः—

नाहमात्मार्थ मिच्छामि गन्धान् घ्राण गतानपि।
तस्मान्मे निर्जिता भूमिर्वशे तिष्ठति नित्यदा॥
नाहमात्मार्थ मिच्छामि रसानास्येऽपि वर्त्ततः।
आपो मे निर्जितास्तस्माद्वशे तिष्ठन्ति नित्यदा॥
नाहमात्मार्थ मिच्छामि रूपं ज्योतिश्च चक्षुषः।
तस्मान्मे निर्जितं ज्योतिर्वशे तिष्ठति नित्यदा॥
नाहमात्मार्थ मिच्छामि स्पर्शान् त्वचि गताश्चये।
तस्मान्मे निर्जितो वायुर्वशे तिष्ठति नित्यदा॥
नाहमात्मार्थ मिच्छामि शब्दान् श्रोत्र गतानपि।
तस्मान्मे निर्जिता शब्दावशे तिष्ठन्ति नित्यदा॥
नाहमात्मार्थ मिच्छामि मनो नित्यं मनोऽन्तरे।
मनोमे निर्जितं तस्माद् वशे तिष्ठति सर्वदा॥ [महाभारत]

उर्दू अनुवाद :—

अपने मज़े की खातिर गुल छोड़ ही दिये जब।
रू-ए-ज़मीं के गुलशन मेरे ही बन गये सब॥
जितने ज़बां के रस थे कुल तर्क कर दिये जब।

बस ज़ायक़े जहां के मेरे ही बन गये सब ॥
खुद के लिये जो मुझ से दीदों की दीद छूटी।
खुद हुस्न के तमाशे मेरे ही बन गये सब ॥
अपने लिये जो छोड़ी ख़्वाहिश हवा खुरी की।
बादे-सबा के झोंके मेरे ही बन गये सब ॥
निज की ग़रज़ से छोड़ा सुनने की आरज़ू को।
अब राग और बाजे मेरे ही बन गये सब ॥
जब बेहतरी के अपनी फ़िक्रो-ख़याल छूटे।
फ़िक्रो-ख़याले-रंगी मेरे ही बन गये सब ॥
आहा! अजब तमाशा! मेरा नहीं है कुछ भी।
दावा नहीं ज़राभी इस जिस्मो-इस्म परही ॥
ये दस्तो-पा हैं सबके, आंखें ये हैं तो सबकी।
दुनिया के जिस्म लेकिन मेरेही बन गये सब ॥

एक छोटे से बालक (वामदेव) का यह अनुभव हैः-
अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं, कक्षीवां ऋषिरस्मि विप्रः।
अहं कुत्समार्जुनेयन्यृञ्जेहं कविरुशना पश्यतामा ॥
अहं भूमिमददामार्यायाहं वृष्टिं दाशुषे मर्त्याय।
अहमपो अनयं वावशाना मम देवासो अनुकेत मायन्॥[ऋग्वेद]

प्रणव (ॐ) में इन मंत्रों के अर्थ का रंग भर कर, अर्थात् 'ॐ' को महावाक्य (ब्रह्मास्मि) का अर्थ देकर जपना, गाना, श्वास में भरना, चलते फिरते चिंतवन में रखना, ब्रह्मसाक्षात्कार में बहुत बड़ा साधन है।

एक स्त्री (वाक्) अपने स्वरूप को जानकर यूं गाती हैः-
अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥
अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम्।

अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये३यजमानाय सुन्वते ॥
अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम् ।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्या वेशयन्तीम् ॥
मयासो अन्नमत्ति यो विपश्यति,यःप्राणितियईं शृणोत्युक्तम्।
अमन्तवो मां त उपक्षियन्ति, श्रुधिश्रुतः श्रद्धिवं ते वदामि ॥
अहमेव स्वयमिदं वदामि, जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः ।
यं कामये तंतमुग्रं कृणोमि, तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥
अहं रुद्राय धनुरा तनोमि, ब्रह्म द्विषे शरवे हन्तवा उ ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावा पृथिवी आविवेश ॥
अहं सुवे पितर मस्य मूर्धन्मम योनिरप्स्व १ न्तः समुद्रे ।
ततो वितिष्ठे भुवनानु विश्वो तामूद्यां वर्ष्मणोप स्पृशामि ॥
अहमेव वात इव प्रवाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा ।
परो दिवा पर एना पृथि, व्यैतावती महिना संबभूव ॥

[ऋ० वे० ७-८-११ सूक्त १२५]

गुल खिलते हैं, गाते हैं रो रो बुलबुल ।
क्या हंसते हैं नाले नदियां ॥
रंगे शफ़क घुलता है, बादे-सबा चलती है ।
गिरता है छम छम बारां । मुझ में ! मुझ में ! मुझ में !
करते हैं अंजम जग मग, जलता सूरज धक धक ।
सजते हैं बागो-ब्यावां*॥
बसते हैं लन्दन पैरिस, पुजते हैं काशी मक्का ।
बनते हैं जिन्नत-उ-रिज़वां । मुझ में ! मुझ में ! मुझ में !
उड़ती हैं रेलें फर फर, बहती हैं बोटें झर झर ।
आती है आंधी सर सर ।
लड़ती हैं फौजें मर मर, फिरते हैं योगी दर दर ।
होती है पूजा हर हर । मुझ में ! मुझ में ! मुझ में !

---

* बियाबां

चरख़ का रंग रसीला, नीला नीला। हर तरफ़ दमकता है।
कैलास झलकता है, बहर ढलकता है।
चांद चमकता है। मुझ में ! मुझ में ! मुझ में !
सब वेद और दर्शन सब मज़हब।
कुरान अञ्जील और त्रिपिटका।
बुद्ध, शंकर, ईसा और अहमद।
था रहना सहना इन सब का। मुझ में ! मुझ में ! मुझ में !

थे कपिल, कणाद और अफ़लातूं,
इस्पन्सर, कैन्ट और हैमिल्टन।
श्री राम, युधिष्ठिर, इसकन्दर,
विक्रम, कैसर, लिज़बथ, अकबर।
मुझ में ! मुझ में ! मुझ में ! मुझ में !

हूं आगे पीछे, ऊपर नीचे, ज़ाहर बातन मैं ही मैं।
माशूक और आशक़ शाइर मज़मूं बुलबुल गुलशन, मैं ही मैं

इन्द्र (राजा) के आनन्द का समुद्र यूं गर्जता है:--

इति वा इति मे मनो गामश्वं सनुयामिति।
कुवित्सोमस्यापामिति ॥

प्रवाता इवदोधत उन्मापीता अयंसत। कुवि०
उन्मा पीता अयंसत रथमश्वा इवाशवः। कुवि०
उपमा मतिरस्थित वाश्रापुत्रमिव प्रियम्। कुवि०
अहं तष्टेव वन्धुरं पर्यचामि हृदा मतिम्। कुवि०
नहि मे अक्षिपच्चनाच्छांत्सुः पञ्च कृष्टयः। कुवि०
नहि मे रोदसी उभे अन्यं पक्षं चन प्रति। कुवि०
अभिद्यां महिना, भुवमभी ३ मांपृथिवींमहीम्। कुवि०
हन्ताहं पृथिवी मिमां नि दधानीह वेहवा। कुवि०
ओषमित्पृथिवी महं जंघनानीह वेहवा। कुवि०

दिवि मे अन्यः पक्षो ३ धो अन्यमचीकृषम् । कुवि०
अहमस्मि महा महोऽभिनभ्य मुदीषितः । कुवि०
गृहो याम्यरंकृतो देवेभ्यो हव्य वाहनः । कुवि०

(ऋ० वे० ८-६-२६ सू० ११९)

पीता हूं नूर हरदम, जामे-सरूर पै हम ।
है आसमां पयाला, वह शराबे-नूर वाला ॥
है जी में अपने आता, दूं जो है जिसको भाता ।
हाथी गुलाम घोड़े, ज़ेवर ज़मीन जोड़े ।
ले जो है जिसको भाता, मांगे बग़ैर दाता ॥ पीता०

हर क़ौम की दुआयें, हर मत की इल्तजायें ।
आती हैं पास मेरे, क्या देर, क्या सवेरे ।
जैसे अड़ाती गायें, जंगल से घर को आयें ॥ पीता०
सब ख़्वाहिशें, नमाज़ें, गुण, कर्म, और मुरादें ।
हाथों में हूं फिराता, "मेमार जैसे ईंटें ।
हाथों में है घुमाता" दुनिया हूं यूं बनाता ॥ पीता०

दुनिया के सब बखेड़े, झगड़े फ़साद झेड़े ।
दिल में नहीं रड़कते, न निगह को बदल सकते ।
गोया गुलाल हैं यह, सुर्मा मिसाल हैं यह ॥ पीता०

नेचर के लाज़* सारे, अहकाम हैं हमारे ।
क्या मेहर क्या सितारे, हैं मानते इशारे ।
हैं दस्तो-पा हर इक के, मरज़ी पै जैसे चलते ॥पीता०

काशिशे सिक़ल की क़ुदरत, मेरी है मेहरो-उलफ़त ।
है निगाह-इ-तेज़ मेरी, इक नूर की अन्धेरी ।
बिजली, शफ़क़, अंगारे, सीने के हैं शरारे ॥ पीता०

---

* Laws of Nature प्रकृति के नियम ।

मैं खेलता हूं होली, दुनिया है गेंद गोली।
ख़्वाह इस तरफ़ को फेंकूं, ख़्वाह उस तरफ़ चला दूं।
पीता हूं जाम हरदम, नाचूं मुदाम धम धम।
दिन रात है तरन्नम, हूं शाहे-राम बेग़म ॥ पीता०

किंकरोमिक्कगच्छामि किंगृह्णामित्यजामिकिम्।
आत्मना पूरितं विश्वं महाकल्पाम्बुना यथा॥
सबाह्याभ्यन्तरे देहे ह्यध ऊर्ध्वं च दिक्षु च।
इत आत्मा तथेहात्मा नास्त्यनात्ममयं जगत्॥
न तदस्ति न यत्राहं न तदस्ति न यन्मयि।
किमन्यदभिवाञ्छामि सर्वं संविन्मयं ततम्॥
स्फार ब्रह्मामलाम्भोधि फेनाः सर्वे कुलाचलाः।
चिदादित्य महा तेजो मृगतृष्णा जगच्छ्रियः॥

भावार्थः—

कहां जाऊं? किसे छोड़ूं? किसे ले लूं? करूं क्या मैं?
मैं इक तूफ़ान क़्यामत का हूं? पुर हैरत तमाशा मैं॥
नहीं कुछ जो नहीं मैं हूं, इधर मैं हूं, उधर मैं हूं।
मैं चाहूं क्या? किसे ढूंढूं, सभों में ताना बाना मैं॥
मैं बातिन, मैं अयां, ज़ेरो-ज़बर, चपरास्त, पेशोपस।
जहां मैं, हर मकां मैं, हर ज़मां, हूंगा, सदा था मैं॥

अस्मे सूर्या चन्द्रमसाभि चक्षे।
श्रद्धेकमिन्द्रचरतोवितर्तुरम्॥

हे इन्द्र! 'हमारे हृदय में श्रद्धा उत्पन्न हो' इस कारण ही सूर्य और चन्द्र नियमानुसार पारी पारी से नित्य भ्रमण करते रहते हैं। इसी हेतु ब्रह्माण्ड भी दुलका।

ॐ! ॐ!! ॐ!!!

वार्तालाप।

(नीचे लिखी बातचीत प्रश्नोत्तर के रूप में लालभवन, फैजाबाद में, ता० १२-५-१९०५ मंगलवार को सवेरे ६ बजे श्री रामतीर्थ भगवान् ने श्रीमान् कुंदनलाल डिप्टी कलेक्टर, पांडेय शांतिप्रकाश, पंडित शिवानन्द तथा अन्य कतिपय जिज्ञासुओं की उपस्थिति में की। स्वामी राम ने इन महानुभावों के प्रश्नों के जो उत्तर दिये उनकी संक्षिप्त नोट श्रीमान् शांतिप्रकाश मंत्री, साधारण धर्मसभा फैजाबाद ने ली जो अविकल रूप से उद्धृत की जाती है।)

प्रश्नः-अब दिनों दिन, जैसा कि पुराणों में लिखा है, भारतवर्ष की अवस्था ख़राब होनी चाहिये, क्या यह ठीक है?

उत्तरः—अब भारतवर्ष सँभले बिना न रहेगा। अब इसके अच्छे दिन आये। अधोगति की रात्रि बीत गई। एक समय था जब भारतवर्ष स्वर्गोपम कहलाता था, उसके सौभाग्य का सूर्य मध्यान्ह काल पर था। फिर दिन ढलना आरंभ हुआ। वह सूर्य मिस्र में पहुँचा। मिस्र से यूनान और रोम होता हुआ स्पेन आदि योरप के देशों में जा चमका। फिर इँगलैंड की बारी आई। और, इँगलैंड से अमेरिका जा पहुँचा जिसने सारे संसार को चकाचौंध में डाल दिया। सो, वही सौभाग्य-सूर्य आज जापान पर चमक रहा है। यही कारण है कि जापान उन्नति पर उन्नति किये चला जाता है। जापान के बाद चीन और चीन के बाद हमारा देश भारतवर्ष इस विश्व-द्योतक सूर्य से प्रकाशित होगा। कोई शक्ति नहीं जो इसको रोक सके, There is no power human or divine that can stand in the way! कोई ऐसी सभ्यता नहीं जो इस

सौभाग्य सूर्य को इस चक्कर काटने से रोके रख सके। भगवन्! इस मुर्दारपन को दूर करो और प्रफुल्लता को हृदय में स्थान दो। फिर कौन सी ऐसी शक्ति है जो तुमको आनंद के भोगने से वंचित रख सके। आओ और आनंद का आस्वादन करो। देखो यह अमी रस कैसा मीठा और प्यारा है। ॐ आनंद! आनंद!! आनंद!!!

फिर पुराणों के विषय में स्वामी जी ने यूं कहाः-वेदों का कर्मकांड अब कहाँ रहा? वे राजसूय यज्ञ आदि अब कहाँ गये? साँप निकल गया और लकीर रह गई और तुम लोग लकीर के फ़क़ीर, लकीर पीटे चले जाते हो। यज्ञोपवीत तो रह गया, मगर यज्ञ कहाँ गये? ख़ाली शिखा रह गई मगर वह बात कहाँ गई जिसके लिये शिखा रक्खी जाती थी? अब तो विवाह और मृत्यु के यज्ञों का भी केवल नाम मात्र रह गया है।

महाभारत के बाद वेदों का संस्कार नहीं रहा। पहले तो युद्ध में कितने ही योधा काम आये और फिर जो कुछ बचे खुचे क्षत्रिय रह गये थे, उनमें से बहुत से अश्वमेध-यज्ञ की भेंट हो गये। अर्जुन का पुत्र अभिमन्यु मरने को जाते समय क्षत्रिय वंश का बीज बो गया था, नहीं तो इस घरेलू लड़ाई ने क्षत्रियों का बीज ही संसार से नाश कर दिया था। हाँ, इन क्षत्रियों के बाद भारतवर्ष में खत्री आ गये, कायस्थ आ गये-मगर भाइयो! बुरा न मानना,—वे क्षत्रिय नहीं रहे। इस महान् युद्ध के अंत होने पर स्त्रियाँ-ही-स्त्रियाँ रह गईं। अब बिना पुरुषों के वे कर्मकांड कैसे करें? यह दशा तो क्षत्रियों की थी, बेचारे ब्राह्मण भी क्या करें? क्या बिना क्षत्रियों की सहायता के ब्राह्मण अपना निर्वाह कर सकते हैं? कदापि नहीं। देखो, महाराज विश्वामित्र को

महाराज रामचंद्र से सहायता लेने की आवश्यकता ही पड़ी। फिर युद्ध के पश्चात् जंगली जातियों ने उस समय ऐसे शिर उठाया कि महाभारत का वीर अर्जुन जो यादवों की स्त्रियाँ लिये आ रहा था, मार्ग में भीलों के हाथ से लुट गया। जिस समय देश की ऐसी दशा थी तो भला ब्राह्मण बेचारे कैसे अपना यज्ञ पूर्ण कर सकते थे? परिणाम यह हुआ कि वैदिक यज्ञों का अंत होगया। तो क्या उसके साथ धर्म का भी अंत हो गया? कदापि नहीं! कदापि नहीं!! यह नहीं हो सकता। समय की आवश्यकता के अनुसार वेदों का कर्मकांड बदलता रहता है और बदलता रहेगा, मगर वेदों का प्राण अर्थात् सत्-ज्ञान न कभी बदला है और न बदलेगा। जिस प्रकार मनुष्यों की आत्मा भिन्न भिन्न शरीरों में आया जाया करती है मगर ज्यों की त्यों रहती है, उसी प्रकार वेदों का प्राण ज्ञान भिन्न भिन्न रूपान्तरों में आया जाया करता है किंतु वस्तुतः वह स्वयं ज्यों का त्यों रहता है।

अब ब्राह्मणों ने धर्म का अंश स्थिर रखने के लिये वैदिक कर्मकांड को पौराणिक कर्मकांड में बदल दिया अर्थात् जो कर्मकांड एकादशी से पूर्णमासी तक हुआ करते थे, उनकी जगह अब केवल एकादशी और पूर्णमासी रख दिया। स्तंभ-पूजन से लिंग-पूजन रह गया। वेदों की कथाओं को पुराणों में सुनाया। अब उन कथाओं की यदि वास्तवता देखो तो मालूम होगा कि उनके भीतर कैसी फ़िलॉसॉफ़ी कूट-कूटकर भरी है। पराशर और भस्मासुर आदि की कथाओं में गूढ़ तत्त्वों का किस सुंदरता के साथ निरूपण किया है!

और देवता के अर्थ क्या हैं? व्यष्टि रूप से जिसको इंद्रिय कहते हैं समष्टि रूप से उसी का नाम देवता है। उपनिषद् और तैत्तिरीय ब्राह्मण में सिवाय इंद्रियों के देवता का और

कुछ अर्थ नहीं है। देवताओं ने पहले गौ के शरीर में प्रवेश किया, फिर घोड़े के, अंत में मनुष्य के शरीर में। पैरों का देवता विष्णु है जो पैरों में रहता है, इसीसे चरण धोने का काम, राजसूय यज्ञ में, श्रीकृष्ण को दिया गया था। ३३ कोटि देवताओं से ३३ करोड़ देवताओं का अभिप्राय नहीं है जैसा कि सर्व साधारण समझते हैं, वरन् 'कोटि' के अर्थ 'प्रकार' के हैं, इस लिये ३३ कोटि से प्रयोजन ३३ प्रकार के देवताओं से है*। यह सीधी सादी बात थी, मगर टेढ़ी होगई। व्याकरण और ज्योतिष ही से सब बातें सिद्ध नहीं होतीं।

जर्मन भाषा राम ने आठ दिन में सीखी। जिस जहाज़ में राम अमेरिका गया था, उस में पाँच-छः सौ जर्मन लोग थे। राम अपने कमरे (कैबिन) से बाहिर आकर बहुधा जहाज़ के डेक पर घूमा करता था। मगर वहाँ से कुछ जर्मन लोग उसको अपने कमरों में ले आया करते थे और उससे बात चीत करते थे। राम ने जर्मनी ज़बान इसी तरह आठ दिन में सीख ली जैसे बच्चा कोई भाषा सीखता है। इसी तरह संस्कृत के सीखने के लिये व्याकरण और कोष में सारी आयु नष्ट न करो। पुस्तकें पढ़ना आरंभ कर दो। केवल रटने से समझ नहीं खुलेगी। महाराज! यह तो बताओ कि 'निरभौ' भी कोई शब्द है? पर हाँ, गुरू नानक जी के कारण गुरुमुखी भाषा में यह एक उत्तम शब्द होगया है। गुरू नानक जी के कारण गुरुमुखी एक भाषा हो गई, साहित्य बन गया। प्यारो! तुम कविता के अनुप्रास (क़ाफ़िया) रदीफ़ और बहरें पढ़े

*स्वामी जी का अभिप्राय यहां उन मुख्य ३३ देवताओं से है जिनका उपनिषदों में ऐसा वर्णन है:—

(क) आठ वसु (ख) ग्यारह रुद्र, (ग) बारह आदित्य, (घ) एक इन्द्र और (ङ) एक प्रजापति।

मिलाया करो, पर जो वाक्य आत्मनिष्ठ पुरुषों से निकलते हैं, वहाँ इनकी क्या आवश्यकता ? कविता की भूमि से उठ कर कविता के आकाश पर आओ। गुरू नानक की कविता को देखो, उसमें कहां अनुप्रास और कहां छंद ? मगर एक पारलौकिक कविता होने के कारण उसने जो गौरव पाया है, वह सूर्य की तरह प्रकाशित है। छंदः शास्त्र के विचार से गीता भी त्रुटियों से रहित नहीं है, तथापि उसको ईश्वरीय गान अर्थात् भगवद्गीता कहते हैं। इसका प्रकाश युगों के परदों को भेदकर आज तक बराबर छनता चला आता है। उपनिषदों में भी व्याकरण के नियम भंग किये गये हैं। व्याकरण बदल दो। जीवात्मा के साथ शरीर चलता है, न कि शरीर के साथ जीवात्मा।

स्मरण रहे कि वेदों की आत्मा (ज्ञान) सत्-ज्ञान है। उसको नहीं बदला, वेदों के केवल शरीर अर्थात् कर्मकांड को बदल दिया। आत्मा कहीं बदल सकती है ? शरीर ही बदला करते हैं। कई जगह यही घटित होता है। स्वामी दयानंद सरस्वती से पहले भी वेदों का ज्ञान तो मौजूद था, हाँ वेदों के कर्मकांड का बेशक प्रचार न था। उपनिषद् चे और चाव से पढ़े जाते थे। संहिता छपी हुई मौजूद न थी और न सामान्य रूप से किसी के पढ़ने में आई थी। वर्त्तमान संहिता के प्रकाशन का इतिहास इस तरह है कि जब ईस्ट-इंडिया कंपनी भारतवर्ष में आई तब अँगरेज़ों ने वेदों की संहिता को इकट्ठा करना शुरू कर दिया। किसी एक पुस्तक वा घर से नहीं, वरन् अनेक ब्राह्मण घरानों से। क्योंकि प्रत्येक ब्राह्मण घराने में कोई न कोई वेद की शाखा मौजूद थी। कोई सी एक शाखा पढ़ लो, बाक़ी सब वही हैं। अग्नि आदि का ज़िक्र सभी में तो आ जाता है विष्णु केवल एक

स्थान पर आया है । बात वही है भेद केवल शब्दों का है। जैनियों और बौद्धों के मत से ब्राह्मणों का धर्म गया। ब्राह्मणों के मारे जाने से उनकी शाखा लुप्त हो गई। निदान जो कुछ शाखाएँ मिलीं, उनको ईस्ट इंडिया कंपनी ने इकट्ठा कराया और प्रोफ़ेसर मैक्स मूलर ने यथानियम संपादित किया। फिर वे पुस्तक के आकार में छपीं। स्वामी दयानंद सरस्वती जी ने उन वेदों को पढ़ा। यद्यपि पुराणों में वेदों की आत्मा स्थिर रक्खी गई है, मगर बौद्ध धर्म का प्रभाव कहीं कहीं रह गया। बुद्ध का मुख्य मत शुद्ध उपनिषदों से निकला है। उनके शिष्यों ने बौद्ध धर्म की मट्टी पलीद की। बौद्ध मत तो क्या वरन् चार्वाक मत भी उपनिषदों से निकला है। चार्वाकों का मत वेदों से सिद्ध होता है। सारांश यह है कि वेद तो मोम की नाक है, सचाई तो हमारे भीतर होनी चाहिये। रामानुज, माधवाचार्य आदि सभी तो अपने अपने मत को वेदों से सिद्ध करते हैं। यह सब इसी प्रकार है जैसे एक मुसलमान पियक्कड़ (शराबी) ने कुरान से शराब पीना सिद्ध कर दिया। बात क्या थी कि कुरान में कहीं आया है कि "खाओ तुम कबाब और पियो तुम शराब, जाओगे तुम जहन्नुम को।" इसका अंतिम वाक्यांश उड़ाकर अपना स्वार्थ सिद्ध कर लिया। इसी तरह वेदों से सब लोग अपना अपना स्वार्थ सिद्ध कर लेते हैं। सत्य तो यूं है कि उपनिषदों से शंकराचार्य का मत निकलता है। रामानुज का काम सामाजिक सुधार का था जो हरएक को अवश्य स्वीकारना चाहिये। प्रत्येक मनुष्य सब वस्तुओं को नहीं जानता। स्वामी दयानंद जी बड़े व्याकरणी थे चूंकि वह व्याकरण, कोष, काव्य और वेदों की संहिताओं को जानते थे, मगर वह तत्त्वज्ञान में अधिक जानकारी न रखते थे। अद्वैत के विरुद्ध जो कुछ उन्होंने कहा

है वह रामानुज और माधवाचार्य से लिया है, और मूर्त्ति पूजन के विरुद्ध जो कुछ कहा है, वह मुसलमानों और ईसाइयों से लिया है। स्वामी दयानंद जी में कोई नई बात नहीं थी। जो कुछ कहा है, औरों से लिया है। इस पर पंडित शिवानंद जी ने प्रश्न किया कि यदि खंडनात्मक भाग दयानंद मत से निकाल दिया जाय तो बाक़ी कुछ न रहेगा।

स्वामी जी ने उत्तर दियाः—भगवन्, ऐसा मत कहो। उसमें बहुत कुछ ग्रहण करने योग्य शेष रह जाता है। स्वामी दयानंद के खंडन और गाली गलौज को छोड़कर तुम उनके जोश ख़रोश और निर्भयता को क्यों नहीं लेते? तुमको चाहिये कि हंस की तरह दूध को पीलो और पानी को छोड़ दो। जहां कहीं अच्छी बात मिले—चाहे दयानंद से मिले, चाहे मोहम्मद साहब से—चाहे मूसा से, चाहे ईसा से—तुम उसे तत्काल ग्रहण कर लो। प्रायः लोग गुण की ओर दृष्टि नहीं देते, दोषों को ही देखा करते हैं। इस प्रकार के भद्दे कटाक्ष लगाना (Sweeping Remarks) छोड़ दो और युक्ति का परित्याग मत करो।

बुद्ध ने वेदों के ज्ञानकांड को ले लिया, मगर पुराणों ने वेदों के कर्मकांड को भी नहीं छोड़ा। बुद्ध के बाद उनके मत के चार संप्रदाय भारतवर्ष में हो गये और वे सब जापान के उत्तरीय और दक्षिणीय भाग में हैं। बुद्ध भगवान् का जीवन अत्यंत पवित्र था। बुद्ध भगवान् ने वर्णाश्रम को बिलकुल उड़ा दिया। कुछ तो आर्य लोग और कुछ यहां के मूल निवासी शैल, भील, गोंड आदि कुछ दिनों बाद सर्पों, नदियों और पत्थरों की पूजा करने लगे। भंगी लोग भूत पैग़ंबर की संतति से हैं जिनका उल्लेख बाइबिल में है। राम ने अर्सा हुआ, इस विषय का अध्ययन किया था।

वाम मार्ग (तांत्रिज़म) बौद्धों में फैल गया और अब भी अमेरिका, चीन और जापान में तांत्रिक लोग मौजूद हैं। बौद्ध मत के पश्चात् कुमारिल भट्ट ने वेदों का प्रकाश किया। मंडन मिश्र कुमारिल भट्ट का शिष्य था किंतु जिसने वेदों की आत्मा अर्थात् ज्ञानकांड प्रकाश किया वह शंकर था। भारतवर्ष, क्या सारे संसार में यह सब से महान् पुरुष हुआ है। राम और कृष्ण की बात दूर गई, किंतु वर्त्तमान काल में शंकर से बढ़कर दूसरा मनुष्य जगत् में उत्पन्न नहीं हुआ। उसने द्वारकाजी से जगन्नाथजी अर्थात् अटक से कटक तक पैदल कई भ्रमण किये। कन्याकुमारी अंतरीय से बदरीनाथ तक उसने पृथ्वी को नापा। शंकराचार्य के तत्त्वज्ञान ने योरप के तत्त्वज्ञान में जीवन डाल दिया। जर्मन तत्त्ववेत्ता कैंट (Kant) आदि ने इसके ग्रंथों का अध्ययन किया था। अब ऐसे ही जाग्रतात्मा पुरुष, जो परमात्मा के अस्तित्व के आगे जगत् के अस्तित्व तक को कुछ नहीं मानते, दूसरों को जगा सकते हैं, नहीं तो "खुफ़्ता रा खुफ़्ता के कुन्द बेदार" अर्थात् "सोते को सोता भला क्योंकर जगा सके?"

इस महापुरुष शंकर ने भारतवर्ष को जगा दिया। ओहो! इसने भारतवर्ष में सजीव मेधाशक्तियाँ उत्पन्न कर दीं। उसने दस प्रकार के संन्यासी बना दिये, और प्रत्येक का एक एक नाम रख दिया। चार मठ स्थापित कर दिये। ये दशनामी संन्यासी उन मठों में रहकर ईश्वरीय शिक्षा का संग्रह करते थे। 'Great men are always found in caves" "महान् पुरुष सदैव कंदराओं में पाये जाते हैं।" ज्योतिर्मठ, शारदा मठ, शृंगेरी मठ, गोवर्द्धन मठ सब इन्हीं के स्थापित किये हुए हैं। राम भी द्वारका के शारदा मठ से संबंध रखता है।

जब नीच जातियाँ बौद्ध बन गईं तो कुछ दिनों बाद

वाम मार्ग आदि के रूप में प्रकट होकर अत्याचार करने लगीं। इस महापुरुष शंकर ने इन अत्याचारों को दूर किया और शंकराचार्य के पश्चात् हिंदू धर्म फैल गया। पिता तो है आर्य धर्म और माता है बौद्ध धर्म।

इंगलैंड में Hood (एक प्रकार का टोप) और Gown (साफे) अभी तक ग्रेजुएट को दिया जाता है। ये क्या हैं? फ़क़ीरों के जुब्बा (एक तरह का बेबाहों का कुर्ता) और कासा (कटोरा) की नक़ल है। जिस तरह Knight शूरवीर) बनने से पहले Page (सेवक-अनुचर) होना पड़ता है, उसी तरह से पहले ब्रह्मचर्य फिर संन्यास। संन्यास देने का अधिकार गुरू को उस समय तक नहीं है जब तक संन्यास का वृत्ति-श्वास भीतर से फूट फूटकर बाहर न निकल आवे। इसी प्रकार से ये संन्यासी बनाए गये थे। ये चलती फिरती युनिवर्सिटियां थीं। शंकर के कारण हिंदू धर्म फैल गया। अब नामों की सनदों से काम होने लगा। लोग तो लेबुलों के मातहत काम करते हैं। अगर एक आर्य समाजी ने कोई बुरा काम किया तो क्या सब आर्यसमाजी बुरे होगये? इस तरह के भद्दे विचारों को को छोड़ दो। शंकराचार्य के बाद पुराने फल उड़ गयें, नयें फल आ गयें। शंकर के बाद बहुत सी ऐसी पुस्तकें लिखी गईं, जिनमें तन्त्रवाद आदि का सब उल्लेख है।

जिस प्रकार वेदों के कर्मकांड को बदल दिया उसी प्रकार अब पुराणों के कर्मकांड को बदल दो। जिस तरह गर्मी आने पर जाड़े के गर्म कपड़ों को तुम बदल देते हो उसी तरह अब भी उपस्थित वर्तमान समय के अनुसार पौराणिक कर्मकांड को बदल दो, मगर पुरानी वैदिक आत्मा को स्थिर रक्खो अर्थात् श्रुति को रख लो।

"मोमिन ज़े क़ुरआन मग़ज़ ए बदश्तिम।

उस्तख़्वाँ ए पेशे सगाँ अंदाख़्तम"

अर्थात्—मैंने कुरान से गूदे (मग़ज़) को निकाल लिया है, और उसका छिलका (हड्डियाँ) कुत्तों के आगे डाल दिया है। अगर राम कोई चीज़ कहता है तो इस वजह से नहीं कहता है कि अमुक पुरुष ने कहा है या अमुक ग्रंथ में लिखा है, वरन् इसी हेतु से कहता है कि हमको इसकी आज अत्यंत आवश्यकता है।

बाबू जयदयाल जी ने प्रश्न किया:—महाराज! शाक्त मत कैसा है?

स्वामी जी ने उत्तर दिया:—जिस शाक्त मत ने स्वामी राम कृष्ण परमहंस को पैदा कर दिया, उसको कौन बुरा कह सकता है? ओम्! ओम्! ओम्!

जिस वस्तु की चर्चा करते हुए तुम नीचे गिरते हो, उसे उड़ा दो।

बाबू कुन्दनलाल ने प्रश्न किया:—महाराज! हमको किस बात का अभ्यास होना चाहिये?

स्वामी जी ने उत्तर दिया:—जो पढ़ते हैं, उसी का अभ्यास करना चाहिये। यही सत्यता है। जिसके मन और वाणी एक हैं वही उन्नति कर सकता है।

बच्चा मा का दूध पीते पीते (अपना काम करते हुए) दाँत निकाल लेगा। इसी तरह हम लोग अपने कोमल से कोमल धर्म पर चलते हुए 'दासोऽहं' से 'शिवोऽहं' पर पहुँच जाते हैं। जो पलरा भारी हो उसी ओर centre of gravity भार का केंद्र होगा। यदि आपका संसारी पलरा भारी है तो बंदा ही रहोगे। मंज़िलें अनेक हैं:—

(१) 'तस्यैवाहं'=मैं उसी का हूं। वह कहीं अलग दूर है, अन्य पुरुष 3rd person है।

(२) 'तवैवाहं'=मैं तेरा हूं। तू सामने मोजूद है, मध्यम पुरुष 2nd person है।

(३) 'त्वमेवाहं'=मैं तू ही हूं। जुदाई दूर, उत्तम पुरुष 1st person है। मनुष्यों और जातियों को इन्ही मंज़िलों में से हो कर गुज़रना पड़ता है। राम ने भी इन मंज़िलों को पार किया है। बच्चा गोद में रहते रहते और दूध पीते पीते कहता है कि मैं बाहर खेलने जाता हूं!

धर्म वह है जो भीतर से स्वतः निकले नाकि वह जो बाहर से भीतर ठूंसा जाय। सूर्य चमकता है कि चीज़ें उत्पन्न हों। नक़ल से काम नहीं निकलता। सवार बुद्धिमान् पशु (Rational animal) है, घोड़ा बिल्कुल पशु है। घोड़े को नीचे से मत खींचो। जब्र से काम नहीं चलता, प्रेम से चलता है।

(१) जिसकी स्थिति 'दासोहं' पर है, वह उसी प्रकार की पुस्तकों को पढ़े जैसे इंज़ील, भक्तमाल, भागवत पुराणादि और इसी से उस मनुष्य को ढाढस होगा। भीतर की वृत्ति (Psychology) अर्थात् "हृदय के ज्ञान को पढ़ने से" बड़ा लाभ होता है।

(२) जिसकी स्थिति 'तवैवाहं' में है, अर्थात् मैं तेरा हूं, उसको विनयपत्रिका, सूरश्यामवाले पद, गीत गोविंद, नारद के भक्तिसूत्र, और कई प्रकार के भजन, रामायण के कोई कोई अंश, जैसे रामायण का वह अंश जहां राम वन जाते समय लछमण और सीता से विलग होते हैं, पढ़ना चाहिये।

(३) तीसरी श्रेणी वालों के लिये बुल्लाशाह और गोपालसिंह की वाणियों के पढ़ने से भी बड़ा लाभ होता है। ये दो पंजाबी है। मगर गोपालसिंह की वाणी ने अभी अधिक प्रसिद्धि नहीं पाई है। इन वाणियों को पढ़ते पढ़ते मारे प्रेम के आंखें बंद हो जाती हैं। गुरु ग्रंथसाहब में दोनों श्रेणी की

अपार वाणियां हैं, तीसरी श्रेणी की बहुत कम। पाठ करते हुए जहां देखा कि चित्त एकाग्र हो गया, किताब को छोड़ दो। घोड़े पर तुम सवार हो, नकि घोड़ा तुम पर सवार है। पाठ किसके लिये है ? भीतर के आनंद के लिये। लोग पढ़ते हैं, मगर पागुर (जुगाली) नहीं करते। अगर पागुर न करोगे तो (mental dyspepsia) मानसिक अजीर्ण हो जायगा। राम जब योग वासिष्ठ पढ़ता था तो उसका नियम था कि उसने थोड़ा सा पढ़ा और फिर किताब को बंद कर दिया और उसको मनन करना आरम्भ कर दिया। यदि इसी तरह से पढ़ा जाय तो क्या बात है जो भीतर घर न बना ले। मनोविज्ञानशास्त्री लोग यह सिखलाते हैं कि जब बुद्धि की सीमा को छोड़कर निष्ठा की सीमा को जाते हैं तो अच्छे हो जाने के सामान बन जाते हैं।

यदि आप चाहते हैं कि अद्वैत या वेदांत को हम पढ़ें तो पहले बौद्धिक संशय और फिर निर्णायक संशय दोनों को उड़ा देना चाहिये। बुद्धि विषयक संशय को दूर करने के लिये राम एक पुस्तक*लिखेगा,और यह किताब उस समय लिखी जायगी जब राम दो वर्ष एकांत में रहेगा। निर्णायक संशय भी फिर उड़ जायगा। इन संशयों को दूर करने के लिये उपनिषदों, भगवद्गीता और शंकर के शारीरक भाष्य को पढ़ें। रिसाला †अलिफ़ ‡थंडरिंग डान (नून) आदि भी इसी प्रकार के रिसाले हैं। छांदोग्य उपनिषद् के पाठ से राम

---

* शोक है कि राम हमको छोडकर चल दिये, नहीं तो बहुत सा काम अभी करना था।

†यह रिसाला स्वामी राम ने उर्दू भाषा में निकाला था जब कि आप गृहस्थाश्रम में थे। इसका संग्रह 'कुलिआते राम' के नाम से छप चुका है।

‡यह अंगरेजी मासिक पत्रिका स्वामी राम की आज्ञा से उनके परम भक्त मि० पूर्णसिंह निकालते थे।

का मन तीसरी श्रेणी पर आया। जिस समय राम दूसरी श्रेणी में था तो वाल्मीकि रामायण के उस भाग को जहाँ राम को बनवास हुआ है, प्रायः पढ़ा करता था और रोया करता था।

राम का मन एक बार बिगड़ गया। लाहौर में अपने कोठे पर चढ़ा था। वहां से उसने किसी स्त्री को नग्न देखा जिससे उसका मन बिगड़ा। मगर मन की इस अवस्था को देखकर वह तत्काल छाती कूटने और रोने लगा, और उस दिन से इस बात का पक्का इरादा कर लिया कि या तो हम मरेंगे या मन को मारेंगे। राम बचपन में बड़ा हठी था। जिस बात के करने की हठ करता था उसको करके छोड़ता था। गणित के प्रश्न हलकर रहा है तो उसमें जीजान से लग गया, खाना पीना, खेलना कूदना सब बंद। एक बार ऐसा हुआ कि कुछ प्रश्न उसने हल करने का इरादा किया। रात भर हल करता रहा, मगर सब सवाल हल न हुए। बस, सवेरा होते ही कोठे पर चढ़ गया और ऊपर से गिर कर मरने लगा। मगर ख़याल आया कि मरूँ तो क्योंकर? सवाल तो अभी पूरे हल नहीं हुए। तात्पर्य यह कि इसी प्रकार से प्रायः हठ किया करता था और यही हठ बाद को दृढ़ता के रूप में परिवर्तित हो गया। संन्यास लेने से प्रथम राम एक बार कश्मीर को चला गया था। फिर वहाँ से आकर कुछ दिन घर पर रहा। मगर बकरे की मा कब तक खैर मनायगी, दूसरी बार फिर निकल पड़ा। वर्ग में जब पढ़ाता था तब प्रायः गणितशास्त्र का व्याख्यान भक्ति के विषय में परिणत हो जाता था। अंत में उसको सांसारिक संबंध छोड़ने ही पड़े। हरिद्वार में पहुँचा। हरिद्वार से ऋषिकेश के मार्ग से सत्यनारायण के मंदिर पर पहुँचा। अपने रेशमी वस्त्र और सोने की जंजीर और घड़ी आदि सब इधर उधर फेंक दिये।

तीन सौ रुपए घर से और मँगवाये। वह भी खर्च कर डाले। फ़क़ीरों, साधुओं से मिला। वार्तालाप हुई। सब से शास्त्रार्थ हुए। तब राम ने यह देखा कि ज़बानी ज्ञान छाँटने में किसी से कम नहीं हूं। मगर हाय! शांति फिर भी नहीं है। अब इस शांति की खोज में घूमता फिरता है। एक दिन प्रातःकाल सत्यनारायण के मंदिर से, जहाँ वह ठहरा था, सब साथियों को छोड़कर अकेला भाग निकला। मगर एक संस्कृत का विद्यार्थी उसके साथ हो लिया क्योंकि संस्कृत के विद्यार्थी प्रायः बड़े सबेरे उठते हैं। सुयोग से एक मस्त अद्वैत मूर्ति महात्मा से इसकी आंखें दो चार हुई। उनके पास केवल एक लँगोटी थी और कुछ न था। वह लँगोटी कुछ फटी हुई थी। एक सेठ बदरीनाथ को जा रहा था। इस मस्त महात्मा ने इस सेठ से अपनी लँगोटी की ओर, जो कुछ खुली थी, संकेत करके कहा—"अरे बदरीनाथ! तू यह देखले।" इन महात्मा का नाम बदरीदेव था। इनसे जब राम की आंखें दो चार हुई, दोनों हँस पड़े। वार्तालाप हुई। दशा पलट गई। वहाँ से पहाड़ पर चला, जहां जंगल के किनारे एक ब्रह्मपुरी नाम का अरण्य है। राम ने वहां उपनिषदों को पढ़ा। छांदोग्य उपनिषद् शांकर भाष्य सहित पढ़ा जा रहा था। फिर तो ऐसी समाधि लगी कि कुछ न पूछो। अगर राम चट्टान पर लेटा है तो कोई पत्थर का टुकड़ा पड़ा है। अगर धूप में बैठा है तो खुद धूप हो रहा है। ऐसी दशा में वह लड़का भी जो के साथ हरिद्वार से भाग निकला था, राम से अलग रहता था। कभी नीचे से कुछ लाकर राम को खिला जाया करता था। उस समय राम की ऐसी दशा हो गई कि यदि वह वायु को आज्ञा दे कि चल, तो वायु तत्काल चल पड़ती थी। पंचमहाभूत उसकी आज्ञा का पालन करते थे। यदि उसको किसी ग्रंथ की आवश्य-

कता होती थी तो कोई व्यक्ति वहीं किताब लिये उसके पास चली आती है। तात्पर्य यह कि यह अवस्था निरंतर छः महीने तक रही और यह स्थिति केवल इस प्रकार के मनुष्य की नहीं हो सकता, वरन् प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त हो सकती है। जब अनुभव प्रत्यक्ष होता जाय तब तर्क और दलीलों को उड़ा दो जो पुस्तक आप के चित्त पर प्रभाव डाले, साथ रखलो। मगर जब वह वस्तु भी मिल जाय तो पुस्तक को भी फेंक दो।

पहली चोटः—(क) पहला साधन-पढ़ना गुलीडंडे की पहली चोट है। फिर दूसरी चोट अभ्यास की है। पहला दर्जा पाठ, दूसरा दर्जा जप। (ख) दूसरा साधन—अभ्यास, संयम और आकर्षण से अपने शरीरों को उड़ा ले जाओ। क्यों न हम प्रकृति के दृश्य से आकाश तक उड़ते चले जांय? प्रातः काल के समय नदियां, बाग और सूर्य के सामने आ जायँ कि जिससे मन उच्च हो। महात्माओं के सत्संग से भी मन महान् हो जाता है। यह गुलीडंडे की पहली चोट है।

दूसरी चोटः-"चुनाँ पुर शुद फ़िज़ाए सीना अज़ दोस्त। ख़याले ख़्वेश गुम शुद अज़ ज़मीरम।" (अर्थात् मेरे हृदय की भूमि मेरे मित्र से ऐसी भरी हुई है कि मेरे दिल से अपने अस्तित्व का ज्ञान ही नष्ट हो गया। वातावरण (atmosphere) में भराव (Saturation) आ जाता है तब किताब को उठाकर ताक़ में रख दो। जब छैल छबीले की मूर्ति से आंख लड़ी तब ज्योति में ज्योति समा गई। जब इन मनोहर दृश्यों से चित्त में उमंग भर आवे, तब ओम् ओम् का गाना शुरू कर दो। यह ओम् का गाना ब्रह्मांड का गीत अर्थात् ब्रह्मध्वनि (music of the sphere) है, जिसको महात्माओं ने सुना है, और सुनाते हैं। और जो सुनना चाहे वह सुन सकता है:-

नग़मे सुरीले ओम् के हैं इससे आ रहे।

नदियां परिंदे याद में हैं सुर मिला रहे ॥

अनुराग को न कुचलो । ऐसे अनुराग को रोक देना मानों महात्मा यूसुफ़ को कुएँ में डाल देना है । जब वह दशा आ जाय तो उसको स्थिर रक्खो । कृष्ण की बंसी का नाद सुनकर गोपियां विहाल हो जाया करती थीं । इस आंतरिक राग के सामने प्रत्येक वस्तु को न्यौछावर कर दो, क्योंकि ईश्वर भीतर बैठा है । संसार का काम कभी नहीं बिगड़ेगा । इस अवसर पर यदि आप से कुछ पद निकलें तो निकलने दो । आन्तर ध्वनि के अनुसार चलो तो आनन्द मग्न हो अन्यथा नष्ट हो जाओगे । वेदांत शास्त्र (आत्मज्ञान) का व्याख्यान पढ़ो । एकांत में अधिक सुख होता है ।

सांस-सांस पर सुमिरो हरिनाम । जिह्वा से नाम लेने पर मन पर प्रभाव पड़ता है । जपः-(१) वाणी से, (२) मन से, (३) संपूर्ण शरीर से होना चाहिये । नाम की महिमा अद्भुत है ।

ओम् केवल वेद में नहीं, कुरान में भी मौजूद है :-

अलिफ़+लाम+मीम=उम=ओम् ।

कुरान की बहुतेरी आयतों के आरंभ में الم अ, ल, म, जो आया है वह यह "ओम्" ही है ال अ, ल, जो प्रायः शब्दों के आरम्भ में आता है उसका ل लकार 'पेश' अर्थात् उकार में परिवर्तित हो जाता है । जैसे करीम-उल-दीन पढ़ने में करीमुद्दीन हो जाता है । और 'पेश' अर्थात् ह्रस्व उकार 'वाव' अर्थात् वकार का संक्षिप्त रूप है । अतएव कुरान का अ+ल+म=अ+उ+म= (ॐ) के समान है ।

ॐ ! ॐ !! ॐ !!!

आनन्द! आनन्द!!

आनन्द !!!

ब्रह्मलीन श्री स्वामी रामतीर्थ जी के शिष्य श्रीमान् आर. ऐस. नारायण स्वामी द्वारा व्याख्या की हुई

श्रीमद्भगवद्गीता।

प्रथम भागः – अध्याय ६ पृष्ठ संख्या ८२६। मूल्य मात्र; साधारण संस्करण २) विशेष सस्करण ३)

यूं तो आज तक श्रीमद्भगवद्गीता की कितनी ही व्याख्या प्रकाशित हो चुकी हैं, परन्तु जिस कारण यह व्याख्या अति उत्तम गिनी जाती है, उसे 'सरस्वती' आदि प्रतिष्ठित पत्रों के शब्दों में ही सुन लीजिये :—

सरस्वती का मत है कि, "स्वामी जी ने इस गीता-संस्करण को अनेक प्रकार से अलंकृत करने की चेष्टा की है, भूमिका, प्रस्तावना, गीता-माहात्म्य, विषयानुक्रमणिका, श्लोकों की सर्वानुक्रमणिका, शुद्धिपत्र, पूर्ववृत्तांत, मूलगीता, उसका शब्दार्थ, अन्वयार्थ, व्याख्या तथा टिप्पणियां देकर आपने इस संस्करण की शोभा बढ़ाई है। पहले मूल, उसके बाद अन्वयांकानुसार प्रत्येक श्लोक के प्रत्येक शब्द का अर्थ दिया गया है। उसके बाद अन्वयार्थ और व्याख्या है। इसके सिवा जगह जगह पर टिप्पणियां दी गई हैं जो बड़े महत्व की हैं, बीच बीच में जहां मूल का विषयान्तर होता दिखाई पड़ा है, वहां सम्बन्धिनी व्याख्या लिख कर विषय का मेल मिला दिया गया है। स्वामी जी ने एक बात और भी की है। आप ने प्रत्येक अध्याय के अन्त में उस अध्याय का संक्षिप्त सार लिख दिया है। इससे साधारण लिखे पढ़े लोगों का बहुत हित साधन हुआ है, मतलब यह है कि क्या बहुत और क्या अल्पज्ञ दोनों के संतोष का साधन स्वामी जी के उस संस्करण में